श्री सूर्यगीता — with the commentary in Hindi by the scholars of भारतधर्ममहामण्डल.

2/e, Benares, 1967.

(18)

1108



ॐ तत्सत् ।

श्रीसूर्य्यगीता ।



भाषानुवादसहिता ।



श्री भारतधर्म्म महामण्डलके शास्त्र प्रकाश
विभागद्वारा प्रकाशित ।



काशी ।



द्वितीयावृत्ति ।



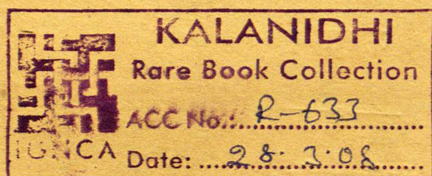
 सन् १९६७



प्रकाशक—
शास्त्र प्रकाश विभाग
श्री भारतधर्म महामण्डल
जगतगंज, वाराणसी

श्रीभारतधर्म्म महामण्डलके किसी कार्य विभागके विषयमें तथा श्रीमहामण्डलके शास्त्र प्रकाशन विभागद्वारा प्रकाशित पुस्तकोंके विषयमें जो महाशय कुछ जानना चाहें, निम्न लिखित पतेसे पत्र व्यवहार करें।

जनरल सेक्रेटरी
श्रीभारतधर्म्म महामण्डल प्रधान कार्य्यालय
जगत्गंज, वाराणसी कैण्ट।



मुद्रक—
बलदेव दास
संसार प्रेस,
काशीपुरा, वाराणसी

॥ ओं तत्सत् ॥

श्रीसूर्य्यगीता ।

प्रथम संस्करणका विज्ञापन ।

श्रीभारतधर्म महामण्डलप्रधान कार्य्यालय काशी धामके शास्त्र प्रकाश विभाग द्वारा अब तक अप्रकाशित दो गीताओंका हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाश होकर हिन्दी साहित्य भण्डार और साथ ही साथ सनातनधर्म्म ग्रन्थ भण्डारकी श्री वृद्धि हुई है। इससे पहले श्रीगुरुगीता सबप्रकारके गुरुभक्तोंकेलिये और श्रीसंन्यासगीता सबप्रकारके सन्यासी और साधुसम्प्रदायोंकेलिये हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित हो चुकी हैं। अब यह श्रीसूर्य्यगीता जो अब तक अप्रकाशित थी, हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशितकी गयी है।

सर्व्वव्यापक सर्व्वजीवहितकारी और पृथिवीके सब धर्म्मोंके पितारूप सनातन-धर्म्ममें निर्गुण और सगुण उपासनारूपसे प्रधान दो भेद हैं। यद्यपि लीला विग्रह अर्थात् अवतार उपासना, ऋषि देवता पितृ उपासना और क्षुद्र तामसिक शक्तियोंकी उपासनारूप-से सनातनधर्म्ममें सब अधिकारके उपासक वृन्दकेलिये और भी कई उपासना शैलियों-का विस्तारित वर्णन पाया जाता है परन्तु लीला विग्रह उपासना अर्थात् अवतार उपासना तो पञ्च सगुण उपासनाके अन्तर्गत ही है। श्री विष्णुभगवान्, श्री सूर्य्यभगवान्, श्रीभगवती देवी, श्रीगणेश भगवान् और श्रीसदाशिव भगवान् इन पञ्च सगुण उपास्य देवताओंमें से सबके ही अवतारोंका वर्णन शास्त्रोंमें पाया जाता है क्योंकि सगुण उपासनाकी पूर्णता-का लीलामय स्वरूपके विना उपासक अनुभव नहीं कर सकता। अस्तु लीलाविग्रह-की उपासना सगुण उपासनाकी पूर्णताकेलिये ही होती है तथा ऋषिदेव पितृ उपा-सना और अन्य क्षुद्र उपासनाका अधिकार सकाम राज्यसे ही सम्बन्ध रखता है।

निर्गुण उपासनामें सर्व्वसाधारणका अधिकार हो ही नहीं सकता। निर्गुण उपासना अरूप, भावातीत, वाक् मन और बुद्धिसे अगोचर आत्मस्वरूपकी उपासना है। निर्गुण उपासना केवल आत्मज्ञान-प्राप्त तत्त्वज्ञानी महापुरुषों तथा जीवन्मुक्त सन्न्या-सियोंकेलिये ही उपयोगी समझी जा सकती है और केवल सगुण उपासना ही सब श्रेणीके उत्तम उपासक वृन्दकेलिये हितकारी समझकर पूज्यपाद महर्षियोंने उसके सिद्धान्तोंका अधिक प्रचार शास्त्रोंमें किया है। सृष्टिके स्वाभाविक पञ्चतत्त्वोंके-अनुसार पञ्चविभागोंपर संयम करके पञ्च उपासक सम्प्रदायके भेद कल्पना करते हुए पूर्व्वाचार्योंने पञ्चसगुण उपासना प्रणाली प्रचलित की है। विष्णु उपासककेलिये वैष्णव सम्प्रदायप्रणाली, सूर्य्यउपासककेलिये सौर्य्य सम्प्रदायप्रणाली, शक्तिउपासकके लिये शाक्तसम्प्रदायप्रणाली, गणपति उपासककेलिये गाणपत्यसम्प्रदायप्रणाली और शिवउपासककेलिये शैवसम्प्रदायप्रणाली उन्होंने विस्तारित रूपसे नाना शास्त्रोंमें

वर्णन की है। प्रत्येक उपासक सम्प्रदायके उपयोगी अनेक आर्षसंहितायें और अनेक तन्त्र ग्रन्थ आदि पाये जाते हैं; यहाँ तक कि प्रत्येक सम्प्रदायके उपयोगी उपनिषद् भी प्राप्त होते हैं। उसी शैलीकेअनुसार प्रत्येक सम्प्रदायके उपासककेलिये अपने अपने सम्प्रदायके पञ्चाङ्ग ग्रन्थ हैं। अपने अपने सम्प्रदायके पञ्चाङ्ग ग्रन्थोंमेंसे अपने अपने सम्प्रदायका गीताग्रन्थ सबसे प्रधान माना गया है।

विष्णुसम्प्रदायकी श्रीविष्णुगीता, सूर्य्य सम्प्रदायकी श्रीसूर्य्यगीता, देवीसम्प्रदाय की श्रीदेवीगीता, गणपति सम्प्रदायकी श्रीगणेशगीता और शिवसम्प्रदायकी श्रीशिव-गीता ये पाँचों ग्रन्थ अति अपूर्व्व उपनिषद्रूपी हैं। इन पाँचों ग्रन्थरत्नोंका प्रकाश अब तक ठीक-ठीक नहीं था। यदिच दो एक ग्रन्थ प्रकाशित भी हुए हैं, तो वे असम्पूर्ण दशामें प्रकाशित हुए हैं। श्रीभारतधर्म्म महामण्डलके शास्त्रप्रकाश विभाग तथा अनुसन्धान विभागद्वारा ये पांचों ग्रन्थरत्न अपने सम्पूर्ण आकारमें प्राप्त हुए हैं। उन्हीं पांचोंमेंसे यह सूर्य्यगीता अब प्रकाशित हो रही है। और गीतायें इसीप्रकारसे क्रमशः प्रकाशित होंगी। ये पांचों गीतायें वेदोक्त विज्ञान, सनातन धर्म्मके अपूर्व्व रहस्य, गम्भीर अध्यात्म तत्त्व और पूज्यपाद महर्षियोंके ज्ञान गरिमा-के सिद्धान्तोंसे परिपूर्ण हैं; इन पांचोंके पाठ करनेसे पाठक बहुत कुछ ज्ञान लाभ कर सकते हैं। निर्गुण ब्रह्म तथा उसकी उपासनाका रहस्य, सगुण उपासनाका महत्त्व और विज्ञान, वेदके कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्डका मर्म्म, सनातन-धर्म्मके सब गभीर सिद्धान्तोंका निर्णय, अध्यात्मतत्त्व, अधिदैव तत्त्व, अधिभूत तत्त्व यहाँ तक कि, वेदका सार सबकुछ इन पञ्चगीताओंमें प्राप्त होता है। ज्ञान-काण्डका विघ्न जिसप्रकार अहङ्कार है, उपासनाकाण्डका विघ्न जिसप्रकार सम्प्रदायिक विरोध है, उसीप्रकार कर्म्मकाण्डका विघ्न दम्भ है। कर्मकाण्डी इनको पाठ करनेसे अपने दम्भको भूलकर भक्त बनजायेंगे, उपासकगण अपने क्षुद्राशय और साम्प्रदायिक विरोधको भूलकर उदार और पराभक्तिके अधिकारी बन सकेंगे और तत्त्वज्ञानीकेलिये तो ये पांचों ग्रन्थ उपनिषदोंके साररूप है। गृहस्थोंकेलिये ये पञ्चगीतायें परममङ्गलकर और सन्न्यासियोंकेलिये अध्यात्मपथप्रकर्शक हैं।

श्रीभारतधर्म्म महामण्डलके शास्त्र प्रकाश विभागके अन्यग्रन्थोंकेअनुसार इस ग्रन्थरत्नका स्वत्वाधिकार दीन दरिद्रोंके भरण पोषणार्थ श्रीविश्वनाथ अन्नपूर्णा दानभण्डार-को दिया गया है। इस ग्रन्थके इस संस्करणके छापनेका व्यय खैरीगढ़ राज्येश्वरी श्रीमती भारतधर्म्मलक्ष्मी महाराणी सुरथकुमारी देवी के. एच. ओ. बी. ई. महोदयाने प्रदान किया है। श्रीभगवान् सूर्य्यदेव उनको नीरोग और दीर्घायु करें। विज्ञापनमिति।

श्रीकाशीधाम गंगादशमी
सम्वत् १९७५ विक्रमी।

विवेकानन्द।

द्वितीय संस्करणकी भूमिका

श्रीसूर्यगीता श्रीभारतधर्म महा मंडलद्वारा प्रकाशित सप्तगीता ग्रन्थों-का एक अमूल्य रत्न है। भारतीय उपासना पद्धतिमें पंचोपासनाका बड़ा महत्त्व है। विष्णु, शिव, गणेश, शक्ति और सूर्य उपासनाके यही पाँच आधार हैं। इन पाँचों देवताओंकी उपासनाके रहस्य श्रीविष्णु गीता, श्रीशंभुगीता, श्रीधीशगीता, श्रीशक्तिगीता और श्रीसूर्यगीतामें पूर्णतया वर्णित हैं। ये सभी गीतायें उपनिषद् स्वरूपा हैं। इन पाँच देवताओंमें सूर्य प्रत्यक्ष देवता हैं। सूर्य इस सौर मण्डलके अधिष्ठाता हैं किन्तु सूर्योपासनाशास्त्रमें सूर्य ही सर्वोत्कृष्ट देवके रूपमें वर्णित हैं। सूर्यही हरि हरादि रूपोंमें अभिव्यक्त होकर निखिल ब्रह्माण्डकी सृष्टि करते हैं। उपासना जगत्में इसप्रकारकी एकान्त निष्ठा अत्यन्त आवश्यक होती है। जब तक इस प्रकारका व्यापक भाव निर्माण नहीं होगा तब तक अपने आराध्यमें अटूटश्रद्धा जम नहीं सकती। इस दृष्टिसे सूर्योपासक समुदाय-में सूर्य ही सर्वेश्वर रूपसे मान्य हैं।

'आकृष्णेन रजसा वर्त्तमानः,
निवेशयन्नमृतं मर्त्त्यं च।
हिरण्ययेन सविता रथेन देवो,
याति भुवनानि पश्यन्।

इस वैदिक मंत्रसे भी इस मान्यताकी पुष्टि होती है।

सूर्यगीता भी श्रीमद्भगवद्गीताकी तरह तापत्रयोमूलनकरी एक महत्त्वपूर्ण उपनिषद् है। इसमें भी अधिदैव, अधिभूत और अध्यात्म भावोंका मनः समाधानकारी उल्लेख है और त्रिगुणात्मकताके साथ ही त्रिभावात्मकताका सामञ्जस्य है।

यह सूत और व्यासके सम्वादके रूपमें प्रस्तुत है। इस अमूल्य ग्रन्थ रत्नके अध्ययनसे कई गूढतम वैज्ञानिक रहस्योंका भी उद्घाटन होता है। आधुनिक वैज्ञानिक इस आविष्कारकेलिये लालायित हैं कि पृथ्वीके अतिरिक्त अन्य ग्रहोंमें जीवन है या नहीं? प्रस्तुत सूर्य गीतामें सूर्यलोकमें सप्तर्षियोंके जाने और वहाँ छहों ऋतुओंमें होनेका उल्लेख है:—

जगतां हित मिच्छन्तः पुरा सप्तर्षयो ध्रुवम्।
सौरे लोके विभुं सूर्यं द्रष्टु मासन्नुपस्थिताः।
तेजो मयोऽपिलोकः सः शैत्य सौन्दर्य पूरितः।
ऋतवः षट् विराजन्ते सदा तत्र समं मुदा॥

इससे तात्कालिक खगोल विज्ञानकी अभूतपूर्व उन्नतिका पता चलता है। आज चन्द्रमा और मङ्गलपर जाना दुष्कर हो रहा है। प्राचीन भारतीय महर्षियोंको विविध लोकोंका अनायास पर्यटन नितान्त सरल था।

सप्तर्षियोंने लोक कल्याणकी कामनासे भगवान् सूर्यसे कर्म, उपास्ति और ज्ञानका रहस्य पूछा था। इसी प्रसङ्गमें उन्होंने मुक्ति, अधिदैव-रहस्य और कर्म, उपासना तथा ज्ञानके सामञ्जस्यके स्वरूपसे सम्बन्धित प्रश्न भी किये। प्रस्तुत ग्रन्थ उन्हीं प्रश्नोंका भगवान् सूर्यद्वारा दिये हुए उत्तरके रूपमें निबद्ध है। इसमें समस्त भारतीय ज्ञान-विज्ञानका वर्णन अत्यन्त सरल शब्दोंमें किया गया है।

यौगिक क्रियाओंकी चर्चा भी यथा प्रसङ्ग है और उनके माध्यमसे विदेह मुक्ति किसप्रकार प्राप्तकी जा सकती है—इसका सुन्दर वर्णन है।

सात अध्यायोंमें संक्षेपमें सूर्योपासनाका इतना सुन्दर विवेचन अन्यत्र दुर्लभ है। सूर्यके उपासकोंकेलिये यह ग्रन्थ कल्पवृक्ष समान है। इसका अध्ययन मनन और चिन्तन अनिवार्यतः अवश्यक है। इस सूर्योपनिषद् ग्रन्थकी जितनी भी प्रशंसा की जाय थोड़ी है।

यह ग्रन्थ अप्राप्य हो गया था। श्रीभारतधर्ममहामण्डलकी संचालिका परम तपस्विनी अर्चनीय चरणारविन्दा श्रीमती माता विद्यादेवीजी महोदयाने लोककल्याणकी कामनासे और सूर्यभक्त तथा अध्येता साधकोंके आग्रहसे इसे पुनः प्रकाशित करनेकी आज्ञा देकर श्रद्धालु जनताका परमोपकार किया है।

यह उल्लेखनीय है, कि आजके इस विषम भौतिक वातावरणसे विषाक्त मस्तिष्क विश्वको ऐसे सद्ग्रन्थोंकी नितान्तनितान्त आवश्यकता है। आजके सुधारक अपने 'स्व' के उत्कर्षके कामोंमें पड़कर वास्तविकताको विस्मृत कर चुके हैं। ऐसे युगमें परमोदारस्वभाव वात्सल्यमयी माता श्रीमती विद्यादेवीजी महोदया लोकमानसके परिष्कारकी कमनीय

कामनासे शास्त्रीय ग्रन्थोंके प्रकाशनका सत्कार्य कर रही हैं। इनका समस्त जीवन लोकोपकारमें संलग्न है।

सूर्यगीताके अध्येता इस अकारण उपकारको कभी विस्मृत नहीं कर सकते।

यह ग्रन्थ साक्षात् भगवान् सूर्यके मुखारविन्दसे निकला हुआ अमृत है। आशा है इस पीयूषका पानकर लोकमानस परिष्कृत होगा और अपने इहलोकके साथ परलोकको भी पुष्ट करेगा। ग्रन्थके प्रकाशनका यह कार्य भगवत्कार्य है। अतः भगवान्के ही मङ्गलमय चरणोंमें श्रद्धा भक्ति-पूर्वक अर्पित है! ॐ सवित्रे नमः।

परमहंस मिश्र
शास्त्र प्रकाशन विभाग
श्री भारत धर्म महामंडल
जगतगंज, वाराणसी कैण्ट



ॐ नमः सवित्रे।

श्रीसूर्य्यगीता।

की

विषयानुक्रमणिका।

प्रथम अध्याय।

विषय पृष्ठांक

तृतीय अध्याय।

चतुर्थ अध्याय।

पञ्चम अध्याय।

सूर्यदेवकी आज्ञा।

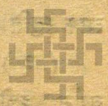
षष्ठ अध्याय।

सूर्यदेवकी आज्ञा।

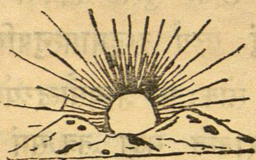
सप्तम अध्याय।

सूर्यदेव की आज्ञा।





श्रीसवित्रे परमात्मने नमः ।



श्रीसूर्य्यगीता ।

भाषानुवादसहिता ।

सूत उवाच ॥ १ ॥

यज्ज्ञानाऽमृतपानेन योगिनस्तत्त्वदर्शिनः ।
विन्दन्ति ब्रह्मसारूप्यं भगवन् ! ब्रूहि तन्मम ॥ २ ॥

व्यास उवाच ॥ ३ ॥

तापत्रयोन्मूलकरीं योगमार्गप्रदर्शिकाम् ।
अध्यात्मभावसम्पूर्णां सूर्य्यगीतामनुत्तमाम् ॥ ४ ॥
इदानीं वच्मि ते सूत ! या देवैरपि न श्रुता ।
सप्तर्षिभिः पुरा प्राप्ता सूर्य्यदेवप्रसादतः ॥ ५ ॥

सूतजी बोले ॥ १ ॥

हे भगवन् ! जिस ज्ञानरूपी अमृतके पानसे तत्त्वदर्शी योगिगण ब्रह्मसारूप्यको प्राप्त करते हैं, उसको मुझे सुनाइये ॥ २ ।

श्रीमहर्षि वेदव्यासने कहा ॥ ३ ॥

हे सूत ! तीनों तापोंको उन्मूलन करनेवाली, योगमार्गको दिखानेवाली और अध्यात्मभावोंसे पूर्ण सूर्यगीता, जिससे उत्तम कुछ भी नहीं है, जो देवताओंने भी नहीं सुनी है और पुराकालमें सूर्यदेवके प्रसादसे सप्तर्षियोंने प्राप्त की थी, इस समय मैं तुमको वही सुनाता हूँ ॥४॥५॥

जगतां हितमिच्छन्तः पुरा सप्तर्षयो ध्रुवम् ।
सौरे लोके विभुं सूर्य्यं द्रष्टुमासन्नुपस्थिताः ॥ ६ ॥
तेजोमयोऽपि लोकः सः शैत्यसौन्दर्य्यपूरितः ।
ऋतवः षड्विराजन्ते सदा तत्र समं मुदा ॥ ७ ॥
दिव्ये तस्मिन् चिराराध्ये सूर्य्यादधिकमादरं ।
लब्ध्वा सप्तर्षयः सद्यः प्रार्थयन्त कृताञ्जलि ॥ ८ ॥

ऋषय ऊचुः ॥ ९ ॥

विश्वप्रकाशक ! श्रीमन् ! सर्वशक्तिनिकेतन ! ।
जगन्नियन्तः ! सर्व्वेश ! विश्वप्राणाश्रय ! प्रभो ! ॥१०॥
कर्म्मोपास्तिज्ञानसाधुरहस्यं कृपया गुरो ! ।
त्रितापतप्तजीवाना मुद्धारायोपदिश्यताम् ॥११॥
येनोपायेन जीवानां मुक्तिः संसारबन्धनात् ।
जायते दयया तन्नः श्रावयेर्विश्वतत्त्ववित् ! ॥१२॥

जगत्के हितकी इच्छा करनेवाले सप्तर्षि पूर्वकालमें विभु सूर्यदेवके दर्शन करनेकेलिये सूर्यलोकमें जाकर उपस्थित हुए । यद्यपि वह तेजोमय लोक है, तथापि शीत और सुन्दरतासे पूर्ण है। वहां पर षड्ऋतु निरन्तर आनन्दकेसाथ विराजते हैं । उस चिराराध्य दिव्यलोकमें सूर्यदेवसे अधिक आदर प्राप्त कर सप्तर्षि उसी समय हाथ जोड़कर प्रार्थना करने लगे ॥ ६-८ ॥

सप्तर्षियोंने कहा ॥ ९ ॥

हे विश्वको प्रकाश करनेवाले ! हे कान्तिमान् ! हे सर्वशक्तियोंके स्थान ! हे जगत्के नियन्ता ! हे सर्वेश्वर ! हे संसारके प्राणाधार ! हे प्रभो ! हे गुरो ! त्रितापसे तप्त जीवोंके उद्धारार्थ कृपा करके कर्म, उपासना और ज्ञानके उत्तम रहस्यका उपदेश करिये ॥ १०-११ ॥ हे विश्वके तत्त्वोंको जाननेवाले ! जिस उपायसे जीवोंकी संसार बन्धनसे मुक्ति होती है, उसे दया करके हमें सुनाइये ॥ १२ ॥

अधिदैवरहस्यस्य विना ज्ञानं न शक्यते।
ज्ञातुं कर्म्मोपासनाधीसामञ्जस्यं सुदुर्ग्रहम् ॥ १३ ॥
अनन्त! विश्वेश! गुरो! जिज्ञासव इमे ततः।
तत्सर्व्वं श्रावयित्वा नोऽनुगृहाणाऽनुकम्पया ॥ १४ ॥

श्रीसूर्य उवाच ॥ १५ ॥

सर्वेषां ज्योतिषां ज्योतिः प्रकाशानां प्रकाशकः।
अहमेवाऽस्मि सर्वासां शक्तीनामाश्रयस्तथा ॥१६॥
अन्ये ये च ग्रहा विप्राः! तथैवोपग्रहाश्च ये।
नित्यं प्रदक्षिणीकृत्य मामेवैते समाश्रिताः ॥१७॥
ब्रह्माण्डं देहपिण्डश्च सर्वं मे सत्तया स्थितम्।
अनन्तसूर्य्यलोकास्ते उपग्रहगणैर्ग्रहैः ॥१८॥
अनन्तैः सह मे सक्ता आज्ञानां पालनेऽनघाः!।
तथा संख्याविहीनास्ते लोकाः सूर्यादिनामकाः ॥१९॥
अनन्तग्रहलोकास्त उपग्रहगणास्तथा।
आद्यन्तरहिते चेमे विराड्वपुषि मे स्थिताः ॥२०॥

अधिदैव रहस्यका ज्ञान विना हुए कर्म उपासना और ज्ञानका कठिन सामञ्जस्य ज्ञात नहीं हो सकता ॥ १३ ॥ हे अनन्त! हे विश्वनाथ! हे गुरो! हमलोग जिज्ञासु हैं, इसकारण वह सब कृपया सुनाकर आप हमें अनुगृहीत करें ॥ १४ ॥

श्रीसूर्यदेवने आज्ञा की ॥ १५ ॥

सब तेजोंका तेज, प्रकाशोंका प्रकाशक और सब शक्तियोंका आश्रय मैं ही हूँ ॥ १६ ॥ हे विप्रो! अन्य जितने ग्रह और उपग्रह हैं, वे सब निरन्तर मेरी ही प्रदक्षिणा करतेहुए मेरे आश्रयसे रहते हैं ॥ १७ ॥ समस्त पिण्ड और ब्रह्माण्ड मेरी ही सत्तासे स्थित हैं। हे निष्पापो! अनन्त ग्रहगण और उपग्रहोंकेसाथ अनन्त सूर्यलोक मेरी आज्ञा पालन करनेमें तत्पर हैं। इसीतरह सूर्यादि असंख्य लोक, अनन्त ग्रहलोक और अनगिनती उपग्रहगण, आदि अन्तरहित मेरे विराट्शरीरमें स्थित हैं ॥ १८-२० ॥

ब्रह्माण्डानि च पिण्डानि समष्टिव्यष्टिभेदतः।
परस्परविमिश्रानि सन्त्यनन्तानि संख्यया॥ २१॥
प्रतिब्रह्माण्डमनिशं ब्रह्मविष्णुहरादयः।
सृष्टिस्थितिलयान् स्वैरं कुर्वते स्वविभागतः॥२२॥
तथैवर्षिगणैर्देवैः पितृभिश्च विभागशः।
अध्यात्ममधिदैवञ्चाधिभूतं कर्म्म तन्यते॥२३॥
ब्रह्माण्डेषु च लोकास्ते सप्तोर्ध्वमध एव च।
प्राणिनामिह भोगार्थं भोगलोका मता इमे॥२४॥
स्वर्गो नरक इत्येवं पितृलोकादयस्तथा।
कर्मपाशयता जीवा यत्रायान्ति च यान्ति च॥२५॥
अथेयं भोगभूरुक्ता कर्मभूः श्रूयतां बुधाः।
एतेष्वेवाऽस्ति लोकेषु चतुर्दशसु शोभनः॥२६॥
योऽयं भूलोक एवासौ कर्मभूरवधार्यताम्।
तत्राऽपि गीयते योऽयमार्यावर्तः स एव सा॥२७॥

ब्रह्माण्ड और पिण्ड, समष्टि और व्यष्टि भेदसे परस्पर मिले हुए हैं और उनकी संख्या अनन्त है॥ २१॥ प्रत्येक ब्रह्माण्डमें ब्रह्मा, विष्णु, महेशआदि स्वतंत्रतापूर्वक अपने अपने विभागानुसार निरन्तर सृष्टि, स्थिति और लयका कार्य किया करते हैं॥ २२॥ इसी तरह ऋषिगण, देवगण, और पितृगणद्वारा अपने अपने विभागानुसार अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत कर्मोंका सम्पादन होता है॥ २३॥ ब्रह्माण्डमें सात उद्र्ध्व और सात अधोलोक हैं। प्राणियोंके भोगकेलिये होनेके कारण उन्हें भोगलोक कहते हैं॥ २४॥ स्वर्ग, नरक और पितृलोकादिमें कर्मपाशबद्ध जीव यातायात करते रहते हैं॥ २५॥ यह भोगभूमि कही गयी है, अब हे विज्ञों! कर्मभूमिका वर्णन श्रवण करें। उक्त चतुर्दश लोकोंमें अत्यन्त शोभायुक्त जो यह भूलोक है, इसीको कर्मभूमि समझें। भूलोकमें भी जिसे आर्यावर्त कहते हैं, वही कर्मभूमि है॥ २६-२७॥

यस्योत्तरस्यां बहुभिस्तरुगुल्मलतादिभिः ।
वृतो हिमगिरिर्भाति बहुधातुविमण्डितः ॥ २८ ॥
दक्षिणस्यां समुद्रेण सहितो विन्ध्यपर्वतः ।
पूर्वस्यां सागरोऽनेकनदनद्यादिसंयुतः ॥ २९ ॥
नदः सिन्धुः प्रतीच्यां च नदिभिः पञ्चभिः सह ।
त इमेऽस्याः प्रसिद्धायाः कर्मभूमेर्विभाजकाः ॥ ३० ॥
देवा अप्यत्र वाञ्छन्ति जन्म कर्मभुवि स्वकम् ।
वैदिकी दृश्यते पूर्णाक्रियाप्यत्रैव नित्यशः ॥ ३१ ॥
पूर्णा च मानवी सृष्टिः कर्मभुव्येव जायते ।
धर्मोऽपि पूर्णतोऽत्रैवाऽवतारोऽपि तथा मम ॥ ३२ ॥
लीलाविग्रहमाधाय दुष्टान् निघ्नन् सतोऽवति ।
रहस्यं सूक्ष्मलोकानां गूढं शृणुत सत्तमाः ! ॥ ३३ ॥
येन वो विमला बुद्धिर्जनिष्यत इहादरात् ।
द्विधा ममाऽस्ति वै शक्तिर्विभक्ता पृथिवीतले ॥ ३४ ॥

जिसके उत्तरमें बहुतसे वृक्ष गुल्म और लताआदिसे युक्त एवं विविध धातुओंसे मण्डित हिमालय पर्वत शोभा पारहा है ॥ २८ ॥ दक्षिणमें समुद्रके साथ विन्ध्य नामक पर्वत स्थित है। पूर्वमें नद नदियोंसे युक्त महासागर तथा पश्चिममें पाँच नदियोंसे युक्त सिन्धु नामक नद विराजमान है। येही सब इस प्रसिद्ध कर्मभूमिके विभाजक (चतुरसीमाके प्रदर्शक) हैं ॥ २९-३० ॥ इस कर्मभूमिमें जन्म ग्रहण करने की देवतालोग भी इच्छा करते हैं। यहाँपर नित्यशः वैदिकी क्रियायें पूर्णरूपसे देखपड़ती हैं ॥ ३१ ॥ कर्मभूमिमें ही पूर्णमानवी सृष्टि होती है। यहीं पूर्णरूपसे धर्मका अस्तित्व है और यही भगवान् लीलाविग्रह (अवतार) धारण कर दुष्टोंका दमन और सज्जनोंका संरक्षण किया करते हैं। अब हे श्रेष्ठ पुरुषों ! सूक्ष्मलोकोंके गूढ़ रहस्यको आदरके साथ सुनो ॥ ३२-३३ ॥ जिससे आपकी बुद्धि निर्मल होगी। पृथ्वीतलपर मेरी शक्ति दो भागोंमें विभक्त है। एक सात्त्विकी

सात्त्विकी तामसी चेति ह्यधितिष्ठन्ति यां सदा ।
देवाश्च दानवाश्चैव मदाज्ञावशवर्त्तिनः ॥ ३५ ॥
देवानामूर्ध्वलोकेषु स्थितिः स्वाभाविकी मता ।
असुराणामधोलोके वसतिर्विनिवेशिता ॥ ३६ ॥
तथा देवासुरं युद्धं मध्ये मध्येऽत्र जायते ।
असुराः कर्म्मव्यत्यासात् देवाञ्जित्वा स्वशक्तितः॥ ३७ ॥
कियन्तमधिकारञ्च तेषां ते कुर्वते स्वयम् ।
देवा अपि प्रसादान्मे पुनर्जित्वाऽसुराँस्तथा ॥ ३८ ॥
स्वाधिकारं समाश्रित्य पुनर्नन्दन्ति निर्भयाः ।
देवानाञ्चासुराणाञ्चाधिकारे साम्यतां गते ॥ ३९ ॥
ब्रह्माण्डेषु च धर्मस्य स्थितिर्याथार्थ्यतो मता ।
देवास्तथर्षयः सर्वे मेऽवतार इव क्षितौ ॥ ४० ॥
धृत्वाऽवतारं मे ज्ञानशक्त्योः साम्यं वितन्वते ।
मज्ज्ञानं ज्ञानिनामन्तर्नित्यं भासयतेऽखिलम् ॥ ४१ ॥

और दूसरी तामसी। मेरी आज्ञाके वशवर्ती होकर देवता और दानव क्रमशः इन दोनों शक्तियोंमें अधिष्ठान करते हैं ॥ ३४-३५ ॥ देवताओंकी स्थिति स्वाभाविकरूपसे ऊर्द्ध्व लोकमें और दानवोंकी अधोलोकमें है ॥ ३६ ॥ परन्तु बीच बीचमें देवासुर संग्राम हुआ करता है । असुरगण कर्मके विपर्य्ययद्वारा अपनी शक्तिको बढ़ाकर देवताओंको जीत लेते और उनके कितनेही अधिकार स्वयम् चलाने लगते हैं। देवतागण भी पुनः मेरे प्रसादसे असुरोंको जीत कर अपना अधिकार पाते हैं और निर्भय होकर आनन्दमें रहने लगते हैं। देवता और असुरोंके अधिकारकी साम्यता होनेपर ब्रह्माण्डमें धर्मकी यथार्थरूपमें स्थिति होती है। देवता तथा ऋषिगण पृथ्वीपर ईश्वरावतारके समान अवतार धारणकर मेरे ज्ञान और शक्तियोंकी साम्यताका प्रचार करते हैं। मेरा ज्ञान ज्ञानियोंके अन्तःकरणमें नित्य ही सम्पूर्ण जगत्को दिखला देता है ॥ ३७-४१ ॥

पञ्चकोषेषु शक्तिर्मे तथा तिष्ठति नित्यशः।
न पश्यन्ति तु तां शक्तिमज्ञानोपहता नराः॥ ४२॥
यावतीं प्रौढतां याति साधकः साधनाध्वनि।
तावत्स पञ्चकोशानां साहाय्यान्मां प्रपद्यते॥ ४३॥
सूक्ष्मेण दिव्यलोकेन स्थूललोकस्य देहिनः।
सम्बन्धकारको ज्ञेयः कोशः प्राणमयश्चरः॥ ४४॥
यदि प्राणमये कोशे पीठं स्थापयितुं क्षमः।
कथञ्चित् स हि मे शक्तिं दैवीमनुभवत्यसौ॥ ४५॥
पञ्चकोशा अपि व्यष्टिसमष्ट्योर्भेदतः सदा।
ऐक्यमेवाश्रयन्तीति यूयं श्रोतुं ततोऽर्हथ॥ ४६॥
समष्टिरूपकोशस्य रहस्यं व्यष्टिकोशके।
आविर्भवति नित्यं तन्नात्र कार्या विचारणा॥ ४७॥
यदा कुण्डलिनी शक्तिराविर्भवति साधके।
तदा स पञ्चकोशे मत्तेजोऽनुभवति ध्रुवम्॥ ४८॥

पञ्चकोषोंमें मेरी शक्ति निरन्तर रहती है, परन्तु उस शक्तिको अज्ञानी पुरुष देख नहीं सकते॥ ४२॥ साधनमार्गमें साधक जितना ही अग्रसर होगा, पञ्चकोषोंकी सहायतासे उतना ही वह मेरे निकट पहुँचेगा॥ ४३॥ क्रियाशील प्राणमय कोषको स्थूललोकके प्राणीका सूक्ष्म दिव्यलोकके साथ सम्बन्ध करा देनेवाला जानना चाहिये॥ ४४॥ यदि प्राणमयकोषमें कोई पीठ स्थापन कर सके, तो वह कथञ्चित् मेरी इस दैवी शक्तिका अनुभव कर सकेगा॥ ४५॥ पञ्चकोष भी व्यष्टि और समष्टिके भेदसे निरन्तर ऐक्यका ही आश्रय करते हैं, इस विषयको आप सुनें॥ ४६॥ समष्टिरूपकोषके रहस्यका व्यष्टिकोषमें नित्यरूपसे आविर्भाव होता है, इसमें सन्देह करनेका प्रयोजन नहीं॥ ४७॥ साधकमें जब कुण्डलिनी शक्तिका आविर्भाव होता है, तब वह अवश्यही पञ्चकोषोंमें मेरे तेजका अनुभव करता है॥ ४८॥

द्रव्यमन्त्रमनःशुद्धया तथा तच्छक्तियोगतः ।
स्थूलेऽपि दिव्यदेशेऽस्मिन् पीठाविर्भूतिरिष्यते ॥ ४६ ॥
पीठसाहाय्यमाश्रित्य तीर्थप्रस्तरविग्रहे ।
आविर्भवति मे शक्तिर्दैवीत्येतद्विनिश्चितम् ॥ ५० ॥
तीर्थानि दिव्यदेशाश्चाप्यनेके परिकीर्त्तिताः ।
कर्मोपास्तिप्रभावेण स्थूललोकेऽपि साधकाः ॥ ५१ ॥
एवं विधानां पीठानां प्रतिष्ठां कुर्वते सदा ।
उपास्तिः सात्त्विकत्वादिभेदेन त्रिविधा मता ॥ ५२ ॥
तद्वत्पीठाश्रयं प्राप्य ऋषींन्देवान् पितॄँस्तथा ।
असुरान् शक्तिभूतान्मे प्रत्यक्षं वीक्षते मुदा ॥ ५३ ॥
सत्त्वादिगुणभेदेन साधकस्य समीहया ।
एतासां मम शक्तीनां दर्शनं तिसृणां पृथक् ॥ ५४ ॥
साधकानामथ स्थूले लोके पीठप्रतिष्ठया ।
मां द्रष्टुं मद्विभूतीर्वा कुमारीबटुविग्रहाः ॥ ५५ ॥
मुद्राशवाग्नियन्त्राणि वपुः स्वीयं तथैव च ।
मुख्यावलम्बनान्याहुरष्टैवैतानि सर्वथा ॥ ५६ ॥

उसीकी शक्तिसे और द्रव्य, मन्त्र तथा मनकी शुद्धिसे इस स्थूल दिव्यदेशमें भी पीठोंका आविर्भाव होता है ॥ ४९ ॥ इसमें सन्देह नहीं कि, पीठकी सहायताका आश्रय कर तीर्थमें और पाषाणमयी मूर्तिमें मेरी दैवी शक्तिका आविर्भाव होता है ॥ ५० ॥ तीर्थ और दिव्यदेश अनेक कहे गये हैं। साधकगण कर्म एवम् उपासनाके प्रभावसे स्थूललोकमें भी इसप्रकारके पीठोंकी सदा प्रतिष्ठा किया करते हैं। सात्त्विकादिभेदसे उपासना तीनप्रकारकी होती है ॥ ५१-५२ ॥ तदनुसार पीठका आश्रय कर मेरे शक्तिभूत ऋषि, देवता, पितर और असुरोंको साधक प्रसन्नतासे प्रत्यक्ष देख सकता है ॥ ५३ ॥ सत्त्वादिगुणभेदसे साधक अपने इच्छानुसार मेरी उक्त तीनों शक्तियोंका पृथक् पृथक् स्वरूप देख सकते हैं ॥ ५४ ॥ साधकोंके अर्थ स्थूल लोकमें पीठ प्रतिष्ठाद्वारा मुझको या मेरी विभूतिको देखनेकेलिये कुमारी, बटुक, मूर्ति, मुद्रा, शव, अग्नि, यन्त्र और निज

तत्रापि देवरूपाणि तत्त्वानामग्नितत्त्वकम्।
मुख्यावलम्बनं प्राहुस्तत्त्वमध्यगतं हि तत् ॥ ५७ ॥
तथा मुद्रा मता लोके स्त्रीपुंस्तदुभयात्त्रिधा।
इयं मुद्रा तु बहुभिश्चक्रशब्देन चोच्यते ॥ ५८ ॥
तस्यापि भेदाः सप्तेति विदुः केचन योगिनः।
यन्त्राण्यप्यमितान्याहुर्योगिनो यन्त्रवेदिनः ॥ ५९ ॥
पीठोत्पन्नकरेष्वेषु साधनेष्वष्टकेष्वपि।
योगिभिस्तु निजं देहं साधनोत्तममीरितम् ॥ ६० ॥
अष्टासु कारणेष्वेषु द्रव्यमन्त्रविशुद्धितः।
मनसः संयमेनापि कोशे प्राणमये ध्रुवम् ॥ ६१ ॥
पीठमुत्पद्यते तस्मिन् कोशे तत्र प्रतिष्ठिते।
आविर्भवन्ति मे सर्वाः शक्तयस्तत्र निश्चितम् ॥ ६२ ॥
किन्तु द्रव्यमनःशुद्धिमन्त्रशुद्ध्याद्यभावतः।
तथोपासनया चापि दिग्बन्धादिप्रयत्नतः ॥ ६३ ॥
पीठस्थानस्य रक्षा चेत्समीचीना भवेन्न हि।
तथोक्तस्य च योगस्य पवित्रत्वाद्यभावतः ॥ ६४ ॥

शरीर येही आठ प्रधान अवलम्बन कहे गये हैं ॥ ५५-५६ ॥ उनमें भी देवताओंकी मूर्त्तियां और सब तत्त्वोंका मध्यवर्ती अग्नितत्व प्रधान अवलम्बन है ॥ ५७ ॥ मुद्रा भी स्त्रीमुद्रा, पुंमुद्रा और उभयात्मिक मुद्रा इसप्रकारसे त्रिविध हैं। इस मुद्राको बहुतसे लोग चक्र भी कहते हैं ॥ ५८ ॥ कोई कोई योगी उसके सात भेद मानते हैं। यन्त्रवेत्ता योगियोंने यन्त्र भी बहुत तरहके कहे हैं ॥ ५९ ॥ पीठको उत्पन्न करनेवाले आठ साधनोंमें योगियोंने निजदेहका ही उत्तम साधन कहा है ॥६०॥ इन आठों अवलम्बनोंमें द्रव्यशुद्धि और मन्त्रशुद्धि द्वारा एवम् मनका संयम करनेसे प्राणमय कोषमें पीठ उत्पन्न होता है। प्राणमयकोषमें पीठ प्रतिष्ठित होनेसे वहां निश्चय ही मेरी सब शक्तियोंका आविर्भाव होता है ॥ ६१-६२ ॥ किन्तु द्रव्यशुद्धि, मनःशुद्धि और मन्त्रशुद्धिआदिके न होनेसे तथा उपासना और दिग्बन्धादिके प्रयत्नसे पीठस्थानकी भलीभांति रक्षा ठीक न हुई तो उक्त यागमें

बहवस्तत्र जायन्तेऽन्तराया असुरैः कृताः ।
मनःसंयमिनो ! वच्मि युष्मद् भव्याय साम्प्रतम् ॥६५॥

नास्त्यस्मात्सुगमः पन्था निर्भयश्चाप्यथोत्तमः ।
योगिनो जगतश्चास्य श्रेयःसंपादनेहया ॥ ६६ ॥

पीठं संस्थाप्य मां वापि मच्छक्तीर्द्रष्टुमिच्छतः ।
स्वान्तःकरणमेवास्य साधनं चोत्तमोत्तमम् ॥ ६७ ॥

तत्वज्ञाः ! पुरतो वोऽहं जगच्छ्रेयोऽभिलाषया ।
अतिगूढं रहस्यं तच्छृणुध्वं यद् ब्रवीम्यहम् ॥ ६८ ॥

वाङ्मनोऽगोचराया मे शक्तेर्भेदाः क्रमेण ह ।
चत्वार ईरिताः स्थूलसूक्ष्मकारणभेदतः ॥ ६९ ॥

चतुर्थस्तु तुरीयः स्याज्ज्ञानरूपो न संशयः ।
निश्चलो हि ममाङ्गे स सततं तिष्ठति ध्रुवम् ॥ ७० ॥

या च कारणरूपा मे तृतीया शक्तिरस्ति सा ।
ब्रह्मविष्णुमहेशानां जनयित्री मता परा ॥ ७१ ॥

पवित्रताआदिके अभावसे असुरोंद्वारा अनेक विघ्न उपस्थित होते हैं। इसलिये हे मनका संयमकरनेवालो ! आपकी भलाईके हेतु इस समय मैं कहता हूँ ॥ ६३–६५ ॥ कि योगिगण इस जगत्के मङ्गल कामनार्थ मुझे या मेरी शक्तियोंको देखनेकी इच्छासे पीठकी संस्थापनाकेलिये अपने अन्तःकरणको ही उत्तमोत्तम साधन समझते हैं। इससे सुगम, निर्भय और उत्तम अन्य मार्ग नहीं है ॥ ६६–६७ ॥ हे तत्त्वज्ञानियो ! आपके सामने जगत्कल्याणकी अभिलाषासे मैं अत्यन्त गूढ़ रहस्य कहता हूँ, उसे सुनिये ॥ ६८ ॥ वाणी और मनसे अगोचर जो मेरी शक्ति है, उसकेभेद क्रमशः चार कहे गये हैं। यथा स्थूल, सूक्ष्म, कारण और चौथा तुरीय। तुरीय शक्ति ज्ञानस्वरूप है, इसमें सन्देह नहीं। यही तुरीयशक्ति निश्चलरूपसे मेरे अङ्गमें निरन्तर रहती है ॥ ६९–७० ॥ मेरी कारणरूपा तृतीय शक्ति ब्रह्मा, विष्णु और महेशकी

द्वितीयस्याश्च सूक्ष्माया साहाय्येन त्रयस्त्विमे।
ब्रह्माण्डजनुराधानस्थितिनाशकरा मताः ॥ ७२ ॥
स्थूला तु दृश्यमानेऽत्र संसारेऽनन्तरूपतां।
कुर्वती चाऽपि वैचित्र्यं व्याप्नोत्यप्यखिलं जगत् ॥७३॥
इयं तु सप्तधा भिन्ना योगिभिर्दृश्यते सदा।
अस्या एव हि मे शक्तेराधारेष्वष्टसु ध्रुवम् ॥ ७४ ॥
साहाय्येनैव दिव्यानां पीठानामुद्भवः स्मृतः।
प्रोक्ताः सर्वे इमे भेदाश्चिच्छक्तेरेव मे मताः ॥ ७५ ॥
पीठसाहाय्यतश्चैवं भक्तिमानुक्तसाधकः।
सूक्ष्मसम्बन्धितामेत्य दृष्ट्वा शक्तीर्ममामिताः ॥ ७६ ॥
तथा मे शतशो लोके विभूतीः परिदृश्य च।
कृतकृत्यत्वमेवैतीत्येतज्जानीत निश्चितम् ॥ ७७ ॥
इह यावन्ति तीर्थानि तानि पीठानि संजगुः।
पीठशक्तियुतान्यत्र सन्ति तीर्थान्यनेकशः ॥ ७८ ॥
केषुचित्तीर्थदेशेषु शक्तिर्मे संततं स्थिता।
केषुचित्तु यथाकालं भक्तिश्रद्धायुता नराः ॥ ७९ ॥

जननी है ॥ ७१ ॥ द्वितीय सूक्ष्मशक्तिकी सहायतासे ब्रह्मा विष्णु महेश ब्रह्माण्डका सृजन, पालन और संहार किया करते हैं ॥ ७२ ॥ और प्रथमा स्थूलशक्ति इस दृश्यमान संसारमें अनन्तरूप बनाया करती है, एवं सम्पूर्ण जगत्‌में विचित्रताको उत्पन्न करती हुई व्यापकरूपसे स्थित रहती है ॥ ७३ ॥ योगिगण इस शक्तिको सप्तधा विभक्त देखते हैं। इसीमें मेरी शक्तिकी सहायतासे आठ आधारोंमें दिव्यपीठोंका प्रादुर्भाव होता है। ये सब भेद मेरी चित्‌शक्तिके ही कहे गये हैं ॥ ७४-७५ ॥ पीठकी सहायतासे पूर्वोक्त भक्तिमान् साधक सूक्ष्मसम्बन्धको प्राप्त कर और मेरी असीम शक्तिको तथा संसारमें मेरी असंख्य विभूतियोंको देखकर कृतकृत्य हो जाता है, यह निश्चयसे जानिये ॥ ७६-७७ ॥ संसारमें जितने तीर्थ हैं, वे सब पीठ कहे जाते हैं। ऐसे पीठशक्तियुक्त अनेक तीर्थ संसारमें विद्यमान हैं ॥ ७८ ॥ किसी किसी तीर्थमें मेरी शक्ति निरन्तर रहती है।

आराधयन्ति तावद्धि मम शक्तिर्विनिश्चिता।
कतिचिद्भक्तवश्यानि तीर्थानि तस्य भक्तितः॥ ८०॥
आविर्भवन्ति तत्रैव तिष्ठन्ति च तदिच्छया।
यथा सर्वेषु कायेषु गवां तिष्ठति गोरसः॥ ८१॥
तथापि गोस्तनादेव स्रवतीति विनिश्चितम्।
तथैव मामिका शक्तिर्विद्यमानाऽपि सर्व्वतः॥ ८२॥
नित्यनैमित्तिकैः पीठैराविर्भवति भूतले।
जगतां श्रेयसे विज्ञाः! शृणुध्वं यन्मयोच्यते॥ ८३।
अध्यात्ममधिदैवञ्चाधिभूतमिति भेदतः।
ममैवेयं त्रिधा शक्तिः क्रमेणैभिरधिष्ठिता॥ ८४॥
ऋषिभिर्देववृन्दैश्च पितृभिश्च यथाक्रमम्।
शक्तिर्मे याऽऽसुरी चास्ति सा दैव्यन्तर्गता मता॥८५॥
केवलं सत्त्वतमसो भेदेनेयन्तु भिद्यते।
देवेष्वसुरसङ्घेषु क्रमशो विनिवेशिता॥ ८५॥

किसी किसी तीर्थमें जबतक मनुष्य श्रद्धाभक्तिपूर्वक समय समय पर आराधना करते हैं, तबतक मेरी शक्ति निश्चितरूपसे रहती हैं। कोई तीर्थ भक्तके अधीन रहते हैं। वे भक्तकी भक्तिसे आविर्भूत होकर उसकी इच्छासे वहीं विद्यमान रहते हैं। जिसप्रकार गौके सब शरीरमें गोरस रहता है, परन्तु स्तनसे ही निर्गत होता है; उसीप्रकार मेरी शक्ति सर्वत्र विद्यमान होतेहुए भी पृथ्वीपर नित्य और नैमित्तिक पीठोंद्वारा आविर्भूत होती है। हे विद्वानो! संसारके कल्याणके लिये जो मैं कहता हूँ उसे सुनिये॥ ७९-८३॥ अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत भेदोंकेअनुसार मेरी यह त्रिविध शक्ति क्रमशः ऋषि, देवता और पितरोंद्वारा अधिष्ठित है। मेरी आसुरी शक्ति दैवी शक्तिके ही अन्तर्गत है॥ ८४-८५॥ केवल सात्त्विक और तामसिक भेदसे मेरी शक्ति दो भागोंमें विभक्त होकर वह देवता और असुर समूहमें क्रमशः स्थित है॥ ८६॥

ऋषयो देववृन्दाश्च बहुधा परिकीर्तिताः ।
नित्यनैमित्तिकाभ्यां ते भेदाभ्यां पितरो द्विधा ॥ ८७ ॥
ऋषयो ज्ञानराज्यस्य देववृन्दाश्च कर्मणः ।
पितरः स्थूलदेहस्य क्रमेणैते नियामकाः ॥ ८८ ॥
देवानुग्रहमासाद्य सृष्टिस्थितिलयाः क्रमात् ।
लोकस्यास्य प्रजायन्त इति पौराणिका विदुः ॥ ८९ ॥
यज्ञादिकर्मणा देवा हृष्टपुष्टाश्च सर्वथा ।
यतन्ते जगदुन्नत्यै तुष्टाश्च जीवश्रेयसे ॥ ९० ॥
आधिदैविकसृष्टेस्तु शक्र एवास्ति रक्षकः ।
नरकप्रेतलोकानां धर्मराजस्तथेरितः ॥ ९१ ॥
इत्थं सक्तास्ति मे दैवीशक्तिर्ब्रह्माण्डरक्षणे ।
मनुष्याः श्रद्धया हीनाः क्रियाज्ञानविवर्जिताः ॥ ९२ ॥
शक्नुवन्ति न मे द्रष्टुं दैवीं शक्तिमनिन्दिताम् ।
माया मे मोहयत्येतान् भ्रामयन्त्यनिशं मुधा ॥ ९३ ॥
वेदशास्त्रादिपाठेन तथा यज्ञादिसाधनात् ।
प्रजया पितृपूजाद्यैः ऋणत्रयविमोचनात् ॥ ९४ ॥

ऋषि और देववृन्द अनेक कहेगये हैं। पितर द्विविध हैं। एक नित्य और दूसरे नैमित्तिक ॥ ८६ ॥ ऋषिगण ज्ञानराज्यके, देवतागण कर्मके और पितर स्थूलदेहके यथाक्रम नियामक हैं ॥ ८८ ॥ पुराणतत्त्ववेत्तालोग कहते हैं कि, देवताओंके अनुग्रहसे संसारका सृजन, पालन और संहार हुआ करता है ॥ ८९ ॥ यज्ञादि कर्मसे देवतागण हृष्टपुष्ट और संतुष्ट होकर जगत्की उन्नति और जीवोंके कल्याणकेलिये सर्वथा यत्न किया करते हैं ॥ ९० ॥ आधिदैविक सृष्टिके इन्द्रदेव और नरक तथा प्रेतलोकोंके धर्मराज रक्षक हैं ॥ ९१ ॥ इसप्रकार मेरी दैवी शक्ति ब्रह्माण्डकी रक्षा करनेमें लगी हुई है। श्रद्धाहीन, क्रियाहीन और ज्ञानहीन मनुष्य मेरी विशुद्ध दैवी शक्तिको नहीं देख सकते। मेरी माया उन्हें व्यर्थ ही भ्रम में डालती हुई निरन्तर मोहित करती है ॥ ९२–९३ ॥ वेद शास्त्रादिके पाठद्वारा, यज्ञादि साधनद्वारा, सन्तानोत्पत्तिद्वारा और पितृ-

आध्यात्मिक्याधिदैव्याधिभौतिकीशुद्धितस्तथा ।
ऋषयो देववृन्दाश्च तथा पितृगणाः सदा ॥ ९५ ॥

मोदन्ते तेन जगतां जनयित्री प्रसीदति ।
तदा श्रद्धायुतः शक्त्या साधको मां स्वरूपतः ॥ ९६ ॥

ज्ञात्वा तीर्त्वा तमोनिद्रां ज्ञानभूमिं प्रपद्यते ।
एवं वः कथितं विप्रा ! रहस्यमिदमुत्तमम् ॥ ९७ ॥
पीठस्य देवशक्तेश्च माहात्म्यं बहुविस्तृतम् ।
यत्तद्ब्रह्म मनोवाचामगोचरमितीरितम् ॥ ९८ ॥

तत्सर्व्वकारणं वित्त सर्व्वाध्यात्मिकमित्यपि ।
अनाद्यन्तमजं दिव्यमजरं ध्रुवमव्ययम् ॥ ९९ ॥
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं ब्रह्माग्रे संप्रवर्तते ।
स्वेच्छामायाख्यया यत्तज्जन्मादिकारणम् ॥१००॥
ईश्वराख्यन्तु तत्तत्त्वमधिदैवमिति स्मृतम् ।
सर्व्वज्ञः सद्गुरुर्नित्यो ह्यन्तर्यामि कृपानिधिः ॥१०१॥

पूजादिद्वारा तीनों ऋणोंको चुकादेनेसे और आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक शुद्धिसे ऋषिगण, देवगण और पितृगण सन्तुष्ट होते हैं और उससे जगज्जननी प्रसन्न होती है। तब श्रद्धायुक्त साधक पुरुष मेरी शक्तिकी सहायतासे मेरे स्वरूपको जानकर मोहनिद्रासे जागृत हो ज्ञानभूमिमें पहुँचता है। हे विप्रो ! यह देव शक्तिके पीठका अतिविस्तृत माहात्म्य और उत्तम रहस्य मैंने तुम्हें सुनाया है ॥ ९४–९७ ॥ जो ब्रह्म मन और वाणीसे अगोचर कहागया है उसे सर्वकारण जानो। वही सबका आध्यात्मिक है। अनाद्यनन्त, अज, अजर, दिव्य, ध्रुव, अव्यय, अप्रतर्क्य, अविज्ञेय ब्रह्म ही पहिले रहते हैं। माया नामक स्वेच्छासे ही जगत्के जन्मका आदिकारणस्वरूप ईश्वरसंज्ञक जो तत्त्व है, उसे अधिदैव कहते हैं। सर्वज्ञ, सद्गुरु, नित्य, अन्तर्यामी, कृपानिधि, समस्त सद्गुणोंके

सर्व्वसद्गुणसारात्मा दोषशून्यः परः पुमान्।
यत्कार्य्यब्रह्म विश्वस्य विधानं प्रकृतात्मकम् ॥१०२॥
विराडाख्यं स्थूलतरमधिभूतं यदुच्यते।
यस्येहावयवैर्लोकान् कल्पयन्ति मनीषिणः ॥१०३॥
कट्यादिभिरधः सप्त सप्तोर्ध्वं जघनादिभिः।
कारणे त्रिविधा भावा सन्त्यस्माद्युक्तमेव हि ॥१०४॥
कार्य्येऽपि तस्य त्रैविध्यं प्रत्येकावयवेष्वपि।
एतदेवाहुरध्यात्ममधिदैवाधिभौतिके ॥१०५॥
सृष्टिस्थितिलयायास्याऽधिदैवं मुख्यमीरितम् ॥१०६॥

इति श्रीसूर्य्यगीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे सूर्य्यर्षि-सम्वादेऽधिदैवरहस्यनिरूपणं नाम प्रथमोऽध्यायः।

***

सारस्वरूप, दोषशून्य, परमपुरुष और जो संसारके प्रकृतविधान-रूप कार्यब्रह्म हैं, वेही विराट् संज्ञक स्थूलतर अधिभूत कहलाते हैं। जिसके अवयवोंसे बुद्धिमानगण कटिसे नीचे सात अधोलोक और कटिसे ऊपर सात ऊर्ध्वलोककी कल्पना करते हैं। कारणमें जिसप्रकार त्रिविध भाव ठीक ठीक हैं, कार्यके प्रत्येक अवयवमें भी वह त्रिविधता विद्यमान है। यही अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत रहस्य है। इस संसारकी सृष्टि स्थिति और लयकेलिये आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक इन तीनोंमें आधिदैविक ही मुख्य कहागया है ॥ ९८-१०६ ॥

इसप्रकार श्रीसूर्य्यगीतोपनिषद्के ब्रह्मविद्यासम्बन्धि सूर्यर्षिसम्वा-दात्मक योगशास्त्रका अधिदैवरहस्य निरूपण नामक प्रथम अध्याय समाप्त।

***



॥ अथ द्वितीयोऽध्यायः ॥

ऋषय ऊचुः ॥ १ ॥

भगवन् ! यच्छ्रुतं पूर्वं भक्त्यास्माभिरनुत्तमम् ।
अध्यात्मभावसम्पूर्णं रहस्यं चेतसः प्रियम् ॥ २ ॥
तेन प्राक्सञ्चितोऽस्माकं मोहोऽयं विगतोऽभवत् ।
यथाऽधिदैवभावोऽपि सन्देहो नाऽस्ति नोऽधुना ॥ ३ ॥
इदानीं ब्रूहि नो ब्रह्मन् ! उपास्यविधिमुत्तमम् ।
वाङ्मनोगोचरातीतं निराकारञ्च निर्गुणम् ॥ ४ ॥
कथं तद्ब्रह्म पुरुषैरुपास्यं बुद्ध्यगोचरम् ।
भगवँस्त्वं महोदारः भक्तानां तापनाशकः ॥ ५ ॥
लोकोपकारनिरतः सर्व्वशक्तियुतः प्रभुः ।
अतोऽस्मान् तस्य तत्त्वस्य दुर्ज्ञेयस्य विशेषतः ॥ ६ ॥
सुगमां पद्धतिं प्रोच्य कृतकृत्यान् कुरुष्व नः ॥ ७ ॥

सूर्य्य उवाच ॥ ८ ॥

रहस्यं सगुणोपास्तेर्ज्ञातव्यं श्रूयतां स्फुटम् ।
पञ्चोपास्यतमा देवा सगुणं ब्रह्म साधवः ! ॥ ९ ॥

महर्षियोंने कहा ॥ १ ॥

हे भगवन् ! अध्यात्मभावपूर्ण, मनोहर, अत्यन्त उत्तम जो रहस्य हम लोगोंने भक्तिपूर्वक सुना, उससे हमारा पूर्वसञ्चित अज्ञान नष्ट होगया है । अधिदैवभावके सम्बन्धमें भी हमें कोई सन्देह नहीं है । अब हे ब्रह्मन् ! हमें उत्तम उपासना विधि सुनाइये । वाणी और मनसे अगोचर, निराकार, निर्गुण, बुद्धिसेपरे स्थित ब्रह्मकी उपासना पुरुष कैसे कर सकेंगे ? हे भगवन् ! आप महान् उदार हैं, भक्तोंके त्रितापका नाश करते हैं, परोपकारमें निरत हैं, सर्वशक्तिमान् हैं और सर्वसमर्थ हैं; इसलिये हमें उस विशेष दुर्ज्ञेय तत्त्वकी सुगम पद्धतिको सुनाकर कृतार्थ करें ॥ २-७ ॥

श्रीसूर्यदेवने आज्ञाकी ॥ ८ ॥

हे साधुगण ! सगुण उपासनाका रहस्य आपको जानना है, सो



निर्गुणं दुर्गमं यस्मात्सगुणोपासना ततः।
सगुणब्रह्मणः पञ्च श्रेष्ठान्भावान्समाश्रिता ॥ १० ॥
निर्गुणब्रह्मणः कार्य्यं जगद्दृश्यमयं यतः।
अनन्तं निखिला भावा अनन्ता कीर्तितास्तवः ॥ ११ ॥
भावातीतस्यापि परब्रह्मणः पञ्चभिः परैः।
भावैरुपास्तिर्विहिता सगुणब्रह्म चास्म्यहम् ॥ १२ ॥
महामाया यदाऽव्यक्ता लीनास्ति ब्रह्मणि स्वयम्।
तदाऽद्वैतपरब्रह्मभावो राजत्यलौकिकः ॥ १३ ॥
सच्चिदानन्दभावोऽसौ गम्यते यत्तयैकया।
तदा स्वरूपावस्थेयमध्यात्मेति निगद्यते ॥ १४ ॥
प्रादुरास्ते जगन्माता वेदमाता सरस्वती।
यस्या न प्रकृतिः सेयं मूलप्रकृतिसंज्ञिका ॥ १५ ॥
ब्रह्मलीना महाशक्तिर्ब्रह्मणालिङ्गितेव सा।
यदा विलोक्यतेऽवस्था तदैव सगुणा मता ॥ १६ ॥

सुनिये ॥ ९ ॥ उपास्योंमें श्रेष्ठ पञ्च देव ही सगुण ब्रह्म हैं। निर्गुणकी उपासना दुर्गम होनेकेकारण सगुण ब्रह्मके पाँच श्रेष्ठ भावोंका सगुणोपासनामें आश्रय किया गया है ॥ १० ॥ निर्गुण ब्रह्मका कार्य्यस्वरूप दृश्यमय जगत् अनन्त होनेसे उसके सम्पूर्ण भाव भी अनन्त कहे गये हैं ॥ ११ ॥ भावातीत परब्रह्मकी उपासना उत्तम पाँच भावोंकेद्वारा करनेकी विधि है; और सगुण ब्रह्म मैं ही हूँ ॥ १२ ॥ महामाया जब स्वयं ब्रह्ममें लीन होकर अव्यक्त अवस्थामें रहती है, तब परब्रह्मका अलौकिक अद्वैत भाव प्रकाशमान रहता है ॥ १३ ॥ जब केवल वह इस सच्चिदानन्द भावमें लीन होती है, तब उस स्वरूपावस्थाको अध्यात्म कहते हैं ॥ १४ ॥ जगज्जननी वेदमाता सरस्वती प्रादुर्भूत होती हैं, जिनकी कोई प्रकृति नहीं और जो स्वयं मूलप्रकृतिके नामसे अभिहित होती हैं ॥ १५ ॥ जिस अवस्थामें ब्रह्ममें लीन महाशक्ति ब्रह्मसे आलिङ्गित होनेके समान देखी जाती है, उस अवस्थाको सगुण अवस्था कहते हैं ॥ १६ ॥

ईश्वरोऽसावसौ चाऽधिदैवभावोऽवधार्यताम् ।
ब्रह्मेशभाव एकोऽपि भिन्नवद् भाति मायया ॥ १७ ॥
ब्रह्माधिदैवावस्थायामेवोपास्तिर्हि पञ्चधा ।
पञ्चदेवात्मिका पञ्च सगुणोपासना इमाः ॥ १८ ॥
चित्प्रधानो महाविष्णुः सूर्य्यस्तेजःप्रधानकः ।
शक्तिप्रधाना सा देवी विश्वशक्तिप्रकाशिनी ॥ १९ ॥
ज्ञानप्रधानो गणपः सत्प्रधानः सदाशिवः ।
पञ्चैते विबुधा ईशाः सगुणब्रह्मसंज्ञकाः ॥ २० ॥
पञ्चधा सगुणोपास्तावधिकारोऽधिकारिणाम् ।
भेदतः पञ्चगीतासु कीर्त्तिताः पञ्चदेवताः ॥ २१ ॥
एत एव परा देवाः सगुणा जगदीश्वराः ।
ब्रह्मविष्णुशिवादीनां जनका एत एव ते ॥ २२ ॥
ब्रह्माण्डानन्त्यतो ब्रह्मविष्णुरुद्रा मुनीश्वराः ।
अनन्ता एत एवान्यानन्तत्रिदशहेतवः ॥ २३ ॥

इसीको ईश्वर भाव अथवा अधिदैव भाव जानना चाहिये। ब्रह्म भाव और ईशभाव एकही होनेपर भी वे मायाकेकारण भिन्नवत् प्रतीत होते हैं ॥ १७ ॥ ब्रह्मकी अधिदैव अवस्थामें ही पाँच-प्रकारकी उपासनाकी विधि है। ये पाँच सगुणोपासनायें पंच देवात्मक हैं ॥ १८ ॥ उनमेंसे महाविष्णु चित्प्रधान हैं, तेजःप्रधान सूर्यदेव हैं, शक्तिप्रधाना भगवती हैं-जो विश्वमें शक्तियोंका प्रकाश करती हैं, गणेशजी ज्ञान प्रधान हैं और भगवान् सदाशिव सत्प्रधान हैं। ये ही पाँच देव सगुण ब्रह्मसंज्ञक ईश्वर हैं ॥ १९-२० ॥ अधिकारिभेदानुसार पाँचों सगुण देवोंकी उपासना करनेका अधिकारियोंको अधिकार है और पाँचों देवताओंका वर्णन पाँचों गीताओंमें पृथक् पृथक् किया गया है। ये ही पाँच श्रेष्ठ सगुण देव जगदीश्वर हैं और ये ही ब्रह्मा, विष्णु, शिवआदिके जनक हैं ॥ २१-२२ ॥ हे मुनीश्वरों ! ब्रह्माण्ड अनन्त होनेकेकारण ब्रह्मा, विष्णु महेश अनन्त हैं और ये ही अन्यान्य अनन्त देवताओंके

अहमेवास्मि चिद्भावः सद्भावोऽपि भवाम्यहम्।
आनन्दभावरूपेणाऽप्यहमेवाऽस्मि सत्तमाः ॥ २४ ॥
आनन्दो व्यापकत्वेन द्वयोरेवास्ति चित्सतोः।
स्पष्टं प्रमाणमेतस्मिन् प्राज्ञास्तत्त्वबुभुत्सवः ॥ २५ ॥
व्यक्तौ विषयसम्बद्ध आनन्दः स्वनुभूयते।
चितः सतश्चानुभवे न तस्यानुभवो ध्रुवम् ॥ २६ ॥
निजचेतनसत्ताया निजास्तित्वस्य च स्वतः।
स्वस्वचैतन्यसत्ताभ्यां दृश्ये त्वनुभवस्तयोः ॥ २७ ॥
निर्गुणं ब्रह्म सगुणं निजानन्दाय जायते।
प्रकाशते च प्रकृतिपुरुषालिङ्गनादयम् ॥ २८ ॥
रसो वै स इति श्रुत्या स आनन्दो रसो मतः।
स शृङ्गार इति प्राज्ञा जानन्ति परमर्षयः ॥ २९ ॥
शुद्धश्च मलिनश्चासौ शृङ्गारो द्विविधो रसः।
ब्रह्मानन्दमयः शुद्धो विषयानन्दकोऽपरः ॥ ३० ॥

कारण स्वरूप हैं ॥ २३ ॥ मैं ही चिद्भाव हूँ और मैं ही सद्भाव हूँ। हे महर्षियों ! आनन्दभाव भी मैं ही हूँ ॥ २४ ॥ चित् और सत् दोनोंमें आनन्द व्यापकरूपसे स्थित है। हे तत्त्वजिज्ञासु महर्षियो ! इस विज्ञानका स्पष्ट प्रमाण यह है कि, प्रत्येक व्यक्तिमें विषयसे सम्बद्ध आनन्दका अनुभव होता है और वह आनन्द केवल सत् और चित्में अलग अलग अनुभूत नहीं होता ॥ २५-२६ ॥ अपनी चेतनसत्ता और अपने अस्तित्त्वका अनुभव अपने अपने चैतन्य और अस्तित्त्वकेद्वारा दृश्यमें होता है ॥ २७ ॥ यथार्थमें निर्गुण ब्रह्म अपने आनन्दकेलिये ही सगुण बन जाते हैं और प्रकृति तथा पुरुषके आलिंगनसे वह आनन्द प्रकाशित होता है ॥ २८ ॥ 'रसो वै सः' इस श्रुतिसे वही आनन्द 'रस' नामसे प्रसिद्ध है। हे प्राज्ञों ! महान् ऋषिगण उसीको शृङ्गार करके मानते हैं ॥ २९ ॥ शृङ्गार रस दोप्रकारका होता है। यथाः—शुद्ध और मलिन। ब्रह्मानन्दमय शुद्ध और विषयानन्दमय मलिन शृङ्गार है ॥ ३० ॥



महादेवीपुरुषयोर्मिथुनत्वमुदेति चेत्।
भान्ति पञ्च तदा भावा ब्रह्मानन्दानुकूलतः॥ ३१॥
चित्तेजःशक्तिविज्ञानसद्रूपाः परमा मताः।
पञ्च भावास्तत्र चिता चेतनोऽस्मीति निश्चयः॥ ३२॥
प्रकृतिः प्राकृतं विश्वं देव्याश्लेषणमीश्वरे।
दृश्यास्तित्वं विराड्रूपे तेजसैव प्रकाशते॥ ३३॥
शक्त्या क्रियाभिव्यक्तिश्च द्वैतस्यानुभवस्ततः।
ततः सर्गाखिलावस्थापरिणामो विराजते॥ ३४॥
स्वरूपं च तटस्थं च ज्ञानं द्विविधमीक्षते।
सर्व्वानुभवसिद्धस्य विस्तृतिर्निष्प्रयोजना॥ ३५॥
अस्तिभावो हि सद्भावो निर्गुणेऽद्वैतरूपतः।
सोऽस्ति तस्मात् पृथक्त्वेन सद्भावो नैव विद्यते॥ ३६॥
सगुणे सगुणत्वेन स्वतः सोऽस्ति ततो निजम्।
जन्मस्थितिलयाध्यक्षं सगुणं ब्रह्म मन्यते॥ ३७॥

महादेवी और परमपुरुषका जब मिलन होता है, तब ब्रह्मानन्दके अनुसार पाँच भाव प्रकट होते हैं॥ ३१॥ वे पाँच भाव चित, तेज, शक्ति, विज्ञान् और सत्के नामसे परम प्रसिद्ध हैं। उनमेंसे चित्केद्वारा मैं चेतन हूँ, इसप्रकारका निश्चय होता है। प्रकृति और प्राकृतिक विश्व, ईश्वरकेसाथ भगवतीका आलिङ्गन और विराट्रूपमें दृश्यका अस्तित्व ये तेजसे ही प्रकाशको प्राप्त होते हैं॥ ३२-३३॥ शक्तिकेद्वारा क्रियाभिव्यक्ति, द्वैतका अनुभव और सृष्टिकी अखिलावस्थाका परिणाम ये सब होते हैं॥ ३४॥ स्वरूपज्ञान और तटस्थज्ञान इस तरहसे दोप्रकारका ज्ञान है। इसका सबको अनुभव है, अतः ज्ञानका विषय विस्तारकेसाथ समझानेकी आवश्यकता नहीं है। ॥ ३५॥ अस्तिभाव ही सद्भाव है वह निर्गुणमें भी अद्वैतरूपसे है। 'वह है' इससे पृथक् सद्भाव और कोई नहीं है॥ ३६॥ सगुणमें सगुणरूपसे स्वयं वे स्थित हैं। अतः वे अपनेको सृष्टि, स्थिति तथा

एतेषां पञ्चभावानां विज्ञानात्समजायत ।
उपासनानां पञ्चानां सगुणानां समुद्भवः ॥ ३८ ॥
सच्चिदानन्दभावानामद्वैते ह्येकरूपता ।
एषां त्रयाणां भावानामतोऽत्रानुभवः समम् ॥ ३९ ॥
तद्विष्णोरिति वाक्योक्तमेतदेव परं पदम् ।
कृतार्थतैव सर्वेषामत्रैवेति सुगीयते ॥ ४० ॥
सच्चितोः खलु पार्थक्यं यदा द्रष्ट्रानुभूयते ।
तदानीं ध्रुवमानन्दो व्यापको विद्यते स्फुटम् ॥ ४१ ॥
यथाविधि विधेः पूजा न सर्वत्रावलोक्यते ।
चित्सत्सत्तानुभूतिर्यत् द्वैते प्राधान्यतो भवेत् ॥ ४२ ॥
चितोऽनुभूतौ सद्भावोऽप्रधानत्वेन वर्त्तते ।
चेतनस्यानुभूतौ यत् तिष्ठत्येव ममास्तिता ॥ ४३ ॥
निजसत्तानुभूतौ तु चेतनस्यास्तिता स्थिता ।
अन्यथानुभवे कोऽनुभविता सम्भविष्यति ॥ ४४ ॥

लयका अध्यक्ष सगुण ब्रह्म मानते हैं ॥ ३७ ॥ इन्हीं पूर्वकथित पाँच भावोंके विज्ञानसे पञ्च सगुणोपासनाओंका प्रादुर्भाव हुआ है ॥ ३८ ॥ सच्चिदानन्दभावोंकी अद्वैतमें एकरूपता रहती है। उस दशामें इन तीनों भावोंका अनुभव एक साथ होता है ॥ ३९ ॥ यही 'तद्विष्णोः परं पदम्' इस श्रुतिवाक्यका कहा हुआ परमपद है। यह प्रसिद्ध है कि, उसी परमपदमें सबकी कृतार्थता होती है ॥ ४० ॥ द्रष्टा जब सत् और चित्को पृथक्रूपसे अनुभव करता है, तभी आनन्द दोनोंमें व्यापकरूपसे अनुभवमें आता है ॥ ४१ ॥ ब्रह्माकी पूजा यथाविधि सर्वत्र नहीं देखी जाती। अतः चित्सत्ता और सत्सत्ताका अनुभव द्वैतमें प्रधानतासे हुआ करता है ॥ ४२ ॥ चित्सत्ताके अनुभवमें सत्भाव प्रधानतासे रहता है। क्योंकि चेतनकी अनुभूतिमें मेरा अस्तित्व रहता ही है ॥ ४३ ॥ और अपनी सत्ता की अनुभूतिमें चेतन-का अनुभव रहता ही है, नहीं तो अनुभवमें अनुभविता कौन

अतो हरिर्हरप्रेम्णि हरिप्रेम्णि हरस्तथा।
अलौकिकमसादृश्यं तन्मयत्वं सुविन्दते॥ ४५॥
चित्सतोः सच्चितोर्वापि सहैवानुभवेन तु।
आनन्दसत्तानुभवो भवतीति विभाव्यताम्॥ ४६॥
व्यापकत्वं सुविज्ञेयं चितोऽपि च सतोऽपि च।
अभिव्यक्तेः प्रणाली तु स्वतन्त्रैवावलोक्यते॥ ४७॥
निदर्शनं विश्वमत्र प्रधानपुरुषात्मकम्।
अत्रैकं प्रकृतेः स्रोतः पुरुषस्येतरत्स्फुटम्॥ ४८॥
सृष्ट्यादौ पुरुषो मूलप्रकृतिश्च ततः परम्।
नरो नारी च सर्व्वत्र स्त्रीपुंभावस्तु विद्यते॥ ४९॥
द्रष्टात्मा दृश्यदेहो यत्सर्व्वत्र परिलक्ष्यते।
पुंभावः पुरुषे तत्र स्त्रीभावः प्रबलः स्त्रियाम्॥ ५०॥
पुंभावो जङ्गमे विप्राः स्त्रीभावः स्थावरे तथा।
किन्तूत्कर्षापकर्षाभ्यां द्वौ भावौ स्तो द्वयोरपि॥ ५१॥

होगा?॥ ४४॥ इसी विज्ञानकेअनुसार हरके प्रेममें हरि और हरिके प्रेममें हरकी अलौकिक अतुलनीय तन्मयता सुशोभित रहती है॥ ४५॥ चित्का सत्केसाथ और सत्का चित्केसाथ अनुभव होनेसे आनन्द सत्ताका अनुभव होता है ऐसा जानिये॥ ४६॥ चित्का और सत्का व्यापकत्व जानना चाहिये क्योंकि उनकी अभिव्यक्तिकी प्रणाली स्वतन्त्ररूपसे देखी जाती है॥ ४७॥ इसका निदर्शक प्रकृतिपुरुषात्मक विश्व ही है। इस विश्वमें एक प्रकृतिका स्रोत और दूसरा पुरुषका स्रोत विद्यमान है॥ ४८॥ सृष्टिके आदिमें पुरुष और मूलप्रकृतिकी स्थिति है। तत्पश्चात् नारीरूपसे स्त्रीपुंभाव सर्वत्र विराजमान है॥ ४९॥ अतः द्रष्टा आत्मा और दृश्य देह सर्वत्र देखनेमें आता है, इसीकारण पुरुषमें पुंभाव एवं स्त्रियोंमें स्त्रीभाव प्रबल होता है॥ ५०॥ हे विप्रगण! ऐसे ही जङ्गममें पुंभाव और स्थावरमें स्त्रीभाव है किन्तु उन दोनोंमें उत्कर्ष तथा अपकर्षकेअनुसार दोनों भाव विद्यमान रहते हैं॥ ५१॥

जङ्गमे खलु पश्वादौ चिदात्मा सद्वपुस्तथा।
नगादौ स्थावरे देवश्चित् तन्मानी स सन्नगः ॥ ५२ ॥
चिद्भावः पौरुषो भावः सद्भावः प्राकृतः स च।
तयोः सर्वत्र सत्वेन व्यापकत्वं हि चित्सतोः ॥ ५३ ॥
व्यापिकानन्दसत्तास्ति ततो ब्रह्मा हि केवलम्।
जगतो द्वैतमानन्दं ससर्ज कुशलोत्सुकः ॥ ५४ ॥
तस्मात्स जगतः स्रष्टा सर्व्वस्य च पितामहः।
निदानं सकलस्यास्य भुवनस्यादिकारणम् ॥ ५५ ॥
ब्रह्मविष्णुमहेशानां महेशेन सदाशिवः।
विष्णुना च महाविष्णुः सम्बद्धो ब्रह्मणा न तु ॥ ५६ ॥
सदाशिवो महाविष्णुर्महादेवी गणेश्वरः।
सूर्य्यश्च परिकीर्त्यन्ते सगुणब्रह्मसंज्ञया ॥ ५७ ॥
एत एवामराः पञ्च सगुणब्रह्म कीर्तिताः।
स्वस्वोपासकवृन्दानां शुभदातार ईश्वराः ॥ ५८ ॥

पशु आदि जङ्गमोंमें चित् आत्मा और सत् शरीर है और पर्वतादि स्थावरोंमें तदभिमानी देवता चित् और वह पर्वतादि ही सत् है ॥ ५२ ॥ चित्भाव पुरुषका भाव और सत्भाव प्रकृतिका भाव है। उन दोनोंका सर्वत्र अस्तित्व होनेसे चित् और सत्की सर्वत्र व्यापकता है ॥ ५३ ॥ आनन्द सत्ता व्यापक है। इसकारण कुशल और उत्सुक ब्रह्माने जगत्के द्वैत आनन्दको सृजन किया है ॥ ५४ ॥ इसीसे वह जगत्का स्रष्टा, सबका पितामह, सबका निदान और त्रिभुवनका आदिकारण कहा गया है ॥ ५५ ॥ ब्रह्मा विष्णु और महेशोंमेंसे महेशकेसाथ सदाशिवका और विष्णुकेसाथ महाविष्णुका सम्बन्ध है—ब्रह्मासे सम्बन्ध नहीं है ॥ ५६ ॥ सदाशिव, महाविष्णु, महादेवी गणेशजी और सूर्यदेव सगुण ब्रह्मकी संज्ञासे प्रसिद्ध हैं ॥ ५७ ॥ ये ही पाँच देवता सगुणब्रह्मरूपसे वर्णित हैं, जो अपने अपने उपासकोंको शुभ फल प्रदान करनेमें समर्थ हैं ॥ ५८ ॥

रजसोऽधिष्ठावृतया पूर्व्वकल्पानुसारतः।
सर्व्वस्रष्टृतया स्रष्टा ब्रह्मा नैतेषु कीर्त्त्यते॥ ५९॥
यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥ ६०॥
मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति मुनीश्वराः।
मयि सर्व्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥ ६१॥
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
बलं बलवतां चाऽहं कामरागविवर्जितम्॥ ६२॥
प्रणवः सर्ववेदेषु प्रभाऽस्मि शशिसूर्ययोः।
इन्द्रियाणां मनश्चाऽस्मि भूतानामस्मि चेतना॥ ६३॥
अध्यात्मविद्या विद्यानां वित्त मां पौरुषं नृषु।
धर्म्माऽविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि मुनिपुङ्गवाः॥ ६४॥
अहमादिश्च मध्यश्च भूतानामन्त एव च।
वीजं मां सर्व्वभूतानां वित्त विप्राः सनातनम्॥ ६५॥
नान्तोऽस्मि मम दिव्यानां विभूतीनां महर्षयः।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया॥ ६६॥

रजोगुणके अधिष्ठाता होनेसे और पूर्वकल्पानुसार सब दृष्टिसे कर्ता होनेसे सृजन करनेवाले ब्रह्माका सगुणब्रह्मके पञ्चरूपोंमें उल्लेख नहीं है॥ ५९॥ जो जो भक्त देवतारूप जिस जिस मूर्तिकी श्रद्धापूर्वक उपासना करनेमें प्रवृत्त होता है, मैं उस उस भक्तकी उस उस मूर्त्तिविषयिणी वैसी ही दृढ़ श्रद्धाका विधान करता हूँ। हे मुनीश्वरों! मुझसे श्रेष्ठ और कुछ नहीं है, सूत्रमें मणिगणके समान मेरेमें यह समस्त जगत् ग्रथित है। मैं बुद्धिमानोंमें बुद्धिरूप हूँ; मैं तेजस्वियोंमें तेज रूप हूँ, और बलवानोंमें काम और रागसे रहित बलरूप मैं हूँ। मैं सब वेदोंमें प्रणवरूप हूँ, मैं चन्द्रमा और सूर्य्यमें प्रभारूप हूँ, मैं इन्द्रियोंमें मनरूप हूँ और सब प्राणियोंमें चेतनरूप हूँ। मैं विद्याओंमें अध्यात्मविद्यारूप हूँ, मुझको मनुष्योंमें पुरुषार्थरूप जानना चाहिये और हे मुनिश्रेष्ठों! सब प्राणियोंमें धर्म्मानुकूल काम मैं हूँ॥ ६०-६४॥ मैं सब भूतोंका आदि मध्य और अन्त भी हूँ और हे विप्रों! मुझको सब भूतोंका सनातन बीज समझो— हे महर्षियों! मेरी दिव्य विभू-

ये चैव सात्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान् वित्त न त्वहं तेषु ते मयि ॥ ६७ ॥
आत्मनो हि प्रतिष्ठाऽहममृतस्याऽव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्म्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥ ६८ ॥
तपस्विभ्योऽधिको भक्तः ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्म्मिभ्यश्चाऽधिको भक्तस्तस्माद्भक्ता भवन्तु वः ॥ ६९ ॥
योगिनामपि सर्व्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥ ७० ॥
बहूनां जन्मनामन्ते प्रज्ञावान् मां प्रपद्यते ।
परमात्मा सर्व्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ ७१ ॥

इति श्रीसूर्य्यगीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे सूर्य्यर्षि-सम्वादे पञ्चोपास्तिनिरूपणं नाम द्वितीयोऽध्यायः ।

***

तियोंका अन्त नहीं है। यह विभूतियोंका विस्तार तो मैंने संक्षेपरूपसे कहा है। सात्विकभाव राजसिकभाव और तामसिकभाव सब ही को मुझसे ही उत्पन्न हुआ जानो। परन्तु मैं उनमें नहीं हूँ, वे मुझमें हैं। मैं आत्माका, अविनश्वर मोक्षका, सनातनधर्म्मका और ऐकान्तिक सुखका (परमानन्दका) स्थितिस्थान हूँ अर्थात् मैं ही आत्मा, मोक्ष, धर्म्म और परमानन्दरूप हूँ ॥६५-६८॥ भक्त तपस्वियोंसे भी उत्कृष्ट है, ज्ञानियोंसे भी उत्कृष्ट मानागया है और कर्म्मियोंसे भी उत्कृष्ट है। इसकारण आपलोग भक्त होवें। सबप्रकारके योगियोंमें भी जो मुझमें अन्तःकरणको लगाकर श्रद्धापूर्वक मेरी उपासना करता है, उसको मैं युक्ततम अर्थात् यथार्थ योगी मानता हूँ। बहुत जन्मोंके पश्चात् प्रज्ञावान् व्यक्ति मुझको प्राप्त होता है। "सब परमात्मा है" ऐसा ज्ञान जिन महात्माओंको है, वे अत्यन्त दुर्लभ हैं ॥ ६९-७१ ॥

इसप्रकार श्रीसूर्य्यगीतोपनिषद्के ब्रह्मविद्यासम्बन्धि सूर्य्यर्षि-संवादात्मक योगशास्त्रका पञ्चोपासनानिरूपणनामक द्वितीय अध्याय समाप्त।

***

ऋषय ऊचुः ॥ १ ॥

भगवन्! केन संसारे प्राणिनः सम्भ्रमन्त्यमी ।
केन तेषां निवृत्तिश्च संसाराद्वद सद्गुरो ॥ २ ॥

सूर्य्य उवाच ॥ ३ ॥

प्रागुत्पत्तेरकर्मैकमकर्तृ च निरिन्द्रियम् ।
निर्विशेषं परं ब्रह्मैवासीन्नात्रास्ति संशयः ॥ ४ ॥
तथापि तस्य चिच्छक्तिसंयुतत्वेन हेतुना ।
प्रतिच्छायात्मिके शक्ती मायाऽविद्ये बभूवतुः ॥ ५ ॥
अद्वितीयमपि ब्रह्म तयोर्यत्प्रतिबिम्बितम् ।
तेन द्वैविध्यमासाद्य जीव ईश्वर इत्यपि ॥ ६ ॥
पुण्यपापादिकर्तृत्वं जगत्सृष्ट्यादिकर्तृताम् ।
अभजत्सेन्द्रियत्वं च सकर्मत्वं विशेषतः ॥ ७ ॥
यस्स्वशक्त्या समुल्लास उद्भूत्परमात्मनः ।
स्वबन्धाजनकं सूक्ष्मं तदाद्यं कर्म कथ्यते ॥ ८ ॥

महर्षिगण बोले ॥ १ ॥

हे भगवन्! हे सद्गुरो! संसार में ये सब प्राणी आवागमन चक्रमें क्यों घूमते रहते हैं और इस संसारसे उनकी कैसे निवृत्ति होगी, सो कृपा करके कहिये ॥ २ ॥

श्रीसूर्यदेवने कहा ॥ ३ ॥

उत्पत्तिके पहिले अकर्म, अकर्ता, इन्द्रियहीन, विशेषतारहित एक परब्रह्म ही थे, इसमें सन्देह नहीं है ॥ ४ ॥ तथापि वे चित्शक्तिसे युक्त होनेकेकारण उनकी प्रतिच्छायास्वरूप माया और अविद्या नामक दो शक्तियाँ हुई ॥ ५ ॥ ब्रह्म अद्वितीय होनेपर भी उक्त दोनों शक्तियोंमें जो वे प्रतिबिम्बित हुए, उसीसे द्विविधता प्राप्त कर ईश्वर और जीव हुए ॥ ६ ॥ जीव पुण्य पापका तथा ईश्वर जगत्की सृष्टि आदिके कर्ता होकर ईश्वर सकर्मत्त्व और जीव विशेषरूपसे इन्द्रियत्वको प्राप्त हुआ ॥७॥ परमात्माका अपनी शक्तिसे जो समुल्लास उद्भूत हुआ, अपनेको बद्ध नहीं करनेवाला वही सूक्ष्म आदिकर्म कहा

न तेन निर्विशेषत्वं हीयते तस्य किञ्चन ।
न च संसारबन्धश्च कश्चिद् विप्राः प्रसज्यते ॥ ९ ॥
पारमार्थिकसंसारी जीवः पुण्यादिकर्मवान् ।
प्रातिभासिकसंसारी त्वीशः सृष्ट्यादिकर्मवान् ॥ १० ॥
असंसारि परं ब्रह्म जीवेशोभयकारणम् ।
ततोऽप्यतीतं नीरूपमवाङ्मनसगोचरम् ॥ ११ ॥
कर्मवन्तौ परित्यज्य जीवेशौ ये महाधियः ।
अकर्मवत्परं ब्रह्म प्रयान्त्यत्र समाधिभिः ॥ १२ ॥
ते विदेहविमुक्ता वा जीवन्मुक्ता नरोत्तमाः ।
कर्माकर्मोभयातीतास्तद्ब्रह्माऽरूपमाप्नुयुः ॥ १३ ॥
कर्मणा संसृतौ बद्धा मुच्यन्ते ते ह्यकर्मणा ।
बन्धमोक्षोभयातीताः कर्मिणो नाप्यकर्मिणः ॥ १४ ॥
जीवस्य कर्मणा बन्धस्तस्य मोक्षश्च कर्मणा ।
तस्माद्धेयं च कर्म स्यादुपादेयं च कर्म हि ॥ १५ ॥

गया ॥ ८ ॥ हे विप्रो ! उससे न तो उनकी निर्विशेषता ही नष्ट होती है और न वे संसारबन्धसे बांधे ही जा सकते हैं ॥ ९ ॥ पारमार्थिक (वस्तुतः) संसारी जीव पुण्यआदिका कर्ता और प्रातिभासिक (आभासमात्र) संसारी ईश सृष्टिआदिका कर्ता कहागया है ॥१०॥ जीव और ईश दोनोंकेकारण असंसारी परब्रह्म हैं। वे जीव और ईशसे अतीत, रूपरहित एवम् वाणी तथा मनसे अगोचर हैं ॥ ११ ॥ परम ज्ञानी पुरुष कर्मवान् जीव और ईशको छोड़कर समाधिद्वारा अकर्मवान् परब्रह्मको प्राप्त करते हैं ॥१२॥ वे विदेहमुक्त अथवा जीवन्मुक्त महापुरुष कर्म और अकर्म दोनोंसे अतीत होकर उस निराकार ब्रह्मको प्राप्त होते हैं ॥ १३ ॥ वे कर्मसे संसारमें बद्ध होते हैं, वे अकर्मसे छूटजाते हैं। बन्ध और मोक्ष दोनोंसे जो अतीत हैं, वे कर्मकर्ता नहीं है और अकर्मी भी नहीं हैं। कर्मसे जीवको बन्ध होता है और कर्मसे ही उसकी मुक्ति है। इसलिये हेय और उपादेय

त्यक्ते कर्मणि जीवत्वमात्मनो गलति स्वयम्।
गृहीते कर्मणि क्षिप्रं ब्रह्मत्वं च प्रसिध्यति ॥ १६ ॥
आविद्यकमशुद्धं यत्कर्म दुःखाय तन्नृणाम्।
विद्यासम्बन्धि शुद्धं यत्तत्सुखाय च कथ्यते ॥ १७ ॥
विद्याकर्म्मक्षुरात्तीक्ष्णात् छिनत्ति पुरुषोत्तमः।
अविद्याकर्म्मपाशाँश्चेत्स मुक्तो नात्र संशयः ॥ १८ ॥
सर्व्वस्य व्यवहारस्य विधेः कर्मैव कारणम्।
प्रथमं द्विविधं कर्म सहजं स्वकृतं तथा ॥ १९ ॥
सहजं जीवधाराया जनकं कथितञ्च तत् ॥
द्वितीयं याति त्रैविध्यं मनुष्यादिषु योनिषु ॥ २० ॥
सञ्चितं क्रियमाणञ्च प्रारब्धमिति भेदतः।
पुण्यपापात्मकं कर्म यत्सर्वप्राणिसञ्चितम् ॥ १२ ॥
अनादिसुखदुःखानां जनकं तन्निगद्यते।
शास्त्रैस्सर्वैश्च विहितं प्रतिषिद्धं च सादरम् ॥ २२ ॥

दोनों कर्म ही हैं ॥ १४-१५ ॥ कर्मत्याग करनेसे आत्माका जीवभाव नष्ट हो जाता है और कर्मका ग्रहण करनेसे शीघ्र ब्रह्मत्त्व सिद्ध होता है अर्थात् शुद्ध कर्मोंके साधनसे जीव ब्रह्मत्व प्राप्त करता है ॥ १६ ॥ अविद्यायुक्त अशुद्ध कर्म मनुष्योंकेलिये दुःखका और विद्यासम्बन्धी शुद्ध कर्म सुखका कारण होता है। जो महापुरुष विद्यासम्बन्धी कर्म-रूपी तीक्ष्ण छूरेसे अविद्यासम्बन्धी कर्मरूपी पाशोंको काट डालता है, वह मुक्त है, इसमें कोई सन्देह नहीं ॥ १७-१८ ॥ सब प्रकारके व्यवहार और विधिका कर्म ही कारण है। कर्म दोप्रकारका होता है। एक सहज और दूसरा स्वकृत ॥ १९ ॥ सहज कर्म जीव-धाराका जनक कहागया है। मनुष्यादि योनियोंमें स्वकृत कर्म तीन प्रकारका होता है! यथाः—सञ्चित, क्रियमाण और प्रारब्ध। सब प्राणियोंका सञ्चित पुण्यपापात्मक जो कर्म है, वही अनादि सुख दुःखोंका जनक कहागया है। सब शास्त्रोंने आदरकेसाथ जिन जिन कर्म्मोंका विधान किया है तथा जिन जिन कर्म्मोंका निषेध किया है,

कामादिजनितं वित्त यूयं संसारकारणम्।
पश्वादीनामभावेऽपि तयोर्विधिनिषेधयोः॥ २३॥
संसारस्य न लोपोऽस्ति पूर्वकर्मानुसारतः।
पूर्वं मनुष्यभूतानां पापकर्मवशादिह॥ २४॥
श्वखरोष्ट्रादिजन्मानि निकृष्टानि भवन्त्यहो।
पापकर्मसु भोगेन प्रक्षीणेषु पुनश्च ते॥ २५॥
प्राप्नुवन्ति मनुष्यत्वं पुनश्च श्वादिजन्मिताम्।
जननैर्मरणैरेवं पौनःपुन्येन संसृतौ॥ २६॥
भ्रमन्त्यब्धितरङ्गस्थदारुवद्धीमतां वराः॥ २७॥

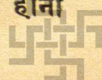
ऋषय ऊचुः॥ २८॥

प्रक्षीणपापकर्माणः प्राप्तवन्तो मनुष्यताम्।
पुनश्च श्वादिजन्मानि केन गच्छन्ति हेतुना॥ २९॥
न हि दुर्जन्महेतुत्वं पुण्यानां युक्तमीरितुम्।
न च पुण्यवतां भूयः पापकर्मोपपद्यते॥ ३०॥

उन सब कामादिजनित कर्म्मोंको संसारका कारण जानो। उन विधि निषेधोंके पशुआदिमें न रहनेपर भी पूर्वकर्मानुसार संसारका लोप नहीं होता। पहिले जो मनुष्य हैं, अहो! वे ही पाप कर्मोंकेकारण कुत्ते, गदहे, ऊँटआदि निकृष्ट योनियोंको भी प्राप्त करते हैं। वेही पापकर्मोंके भोग लेनेपर॥२०-२५॥ पुनः मनुष्य होते और पुनः पश्वादि योनियोंमें जन्म पाते हैं। हे बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठों! इसीतरह संसारमें पुनः पुनः जनन मरणको प्राप्त होते हुए, समुद्रके तरङ्गोंपर पड़ी हुई लकड़ीकी तरह, जीवगण भ्रम रहे हैं॥ २६-२७॥

ऋषिगण बोले॥ २८॥

पाप कर्म क्षीण हो जानेपर प्राणी जब फिर मनुष्यत्वको प्राप्त करलेते हैं, तब उन्हें पुनः कुत्तेआदिकी योनियोंमें क्योंकर जन्म ग्रहण करना पड़ता है? एक तो पुण्यवानोंको दुर्जन्म (नीच योनि) नहीं मिलनी चाहिये और दूसरे पुण्यवान्‌का पापकर्मी होना



पुण्यैर्विशुद्धचित्तानां ज्ञानयोगादिसाधनैः ।
संसारमोक्षसंसिद्ध्या पापकर्माप्रसक्तितः ॥ ३१ ॥
जीवेषु पौनःपुन्यं चेदुत्तमाधमजन्मनाम् ।
नियमेनाभिधीयेत येन केनापि हेतुना ॥ ३२ ॥
मोक्षशास्त्रस्य वैयर्थ्यमापतत्येव सर्वथा ।
तस्मादपापिनां जन्म पुनश्चेति न युज्यते ॥ ३३ ॥

सूर्य्य उवाच ॥ ३४ ॥

प्रक्षीणेष्वपि भोगेन पापकर्मसु देहिनः ।
पुनश्च पापकर्माणि कुर्वन्तो यान्ति दुर्गतिम् ॥ ३५ ॥
तानि दुर्जन्मबीजानि कामात्पापानि देहिनाम् ।
पुनरप्युपपद्यन्ते पूर्वपुण्यवतामपि ॥ ३६ ॥
सकामानाञ्च पुण्यानां भोगहेतुतया नृणाम् ।
न चित्तशुद्धिहेतुत्वं क्वचिद्भवितुमर्हति ॥ ३७ ॥

सम्भव नहीं। पुण्यकर्मसे जिनके चित्त निर्मल होगये हैं, उनके ज्ञानयोगादि साधनोंद्वारा संसारसे मुक्त होजानेकेकारण उनकी पापकर्ममें आसक्ति नहीं रहेगी। यदि उनका भी उत्तम अधम योनियोंमें बारम्बार जन्म ग्रहण करना किसीप्रकारसे अनिवार्य है, तो मोक्षशास्त्रकी आवश्यकता ही नहीं रह जाती। इसकारण पुण्यात्माओंका पुनर्जन्म होता है, यह बात ठीक नहीं प्रतीत होती ॥ २९-३३ ॥

श्रीसूर्यदेव बोले ॥ ३४ ॥

प्राणिमात्रके पापकर्म भोगद्वारा क्षीण होजानेपर पुनः पापाचरण करनेपर ही उन्हें दुर्गति प्राप्त होती है ॥ ३५ ॥ पूर्वजन्मके पुण्यात्मा प्राणियोंके भी दुर्जन्मके बीजस्वरूप वे पापकर्म बासनाकेकारण पुनः उत्पन्न हुआ करते हैं ॥ ३६ ॥ मनुष्यकृत सकाम पुण्यकर्मोंके भोगहेतु होनेसे वे कभी चित्तशुद्धिके कारण नहीं बन

कुतश्चाशुद्धचित्तानां ज्ञानयोगादिसम्भवः ।
ज्ञानयोगादिहीनानां कुतो मोक्षश्च संसृतेः ॥ ३८ ॥

कामेन हेतुना सत्स्वप्युत्तमाधमजन्मसु ।
मोक्षशास्त्रस्य सार्थक्यं नैष्काम्योदयहेतुकम् ॥ ३९ ॥

सुखदुःखोपभोगेन यदा निर्वेदमागतः ।
निष्कामत्वमवाप्नोति स्वविवेक पुरस्सरम् ॥ ४० ॥

ततःप्रभृति कैश्चित्स्याज्जन्मभिर्ज्ञानयोगवान् ।
श्रवणादिप्रयत्नैर्हि मुक्तिः स्वात्मन्यवस्थितिः ॥ ४१ ॥

कर्माध्यक्षं परात्मानं सर्वकर्मैकसाक्षिणम् ।
सर्वकर्मविदूरन्तं कर्मवान् कथमाप्नुयात् ॥ ४२ ॥

पुण्येष्वपि च पापेषु पौर्विकेषु च भोगतः ।
क्षपितेषु परात्मा स स्वयमाविर्भविष्यति ॥ ४३ ॥

कर्तृभिर्भुज्यते जीवैस्सर्वकर्मफलं न तु ।
साक्षिणा निर्विकल्पेन निर्लेपेन परात्मना ॥ ४४ ॥

सकते ॥ ३७ ॥ अशुद्ध चित्त पुरुषोंमें ज्ञानयोगादिका सम्भव कैसे होगा और जो ज्ञानयोगादिसे विमुख हैं उनका संसारसे मोक्ष कैसे होगा ? ॥ ३८ ॥ काम्यकर्मोंके कारण उत्तम या अधम योनिमें जन्म होनेपर भी निष्काम कर्मके उदय होनेसे ही मोक्षशास्त्रकी सार्थकता होजायगी। सुख दुःखोंको भोग लेनेपर जब निर्वेददशामें मनुष्य पहुँचजाता है, तब वह विवेकी बनकर निष्काम दशाको प्राप्त करता है ॥ ३९-४० ॥ फिर कई जन्मोंमें वह ज्ञानयोगी बनता है। श्रवणमननादि प्रयत्नोंसे जो आत्मामें अवस्थिति होती है, वही मुक्ति है। जो कर्माध्यक्ष हैं, परमात्मा हैं, सब कर्मोंके साक्षिस्वरूप हैं और सब कर्मोंसे परे हैं, उनको कर्मवान् पुरुष कैसे प्राप्त कर सकता है ? पहिलेके पुण्य पाप भोगसे जब क्षीण हो जाते हैं, तब परात्मा स्वयं आविर्भूत हो जाते हैं। सबप्रकारके कर्मफल उनके कर्ता जीव ही भोगते हैं, सर्वसाक्षी, निर्विकल्प, निर्लेप, परमात्मा नहीं भोगते।



जीवानां तदनन्यत्वात् भोगस्यावसरः कुतः ।
इति केचन शङ्कन्ते वेदान्तापातदर्शिनः ॥ ४५ ॥
परमार्थदशायां हि तदनन्यत्वमिष्यते ।
व्यवहारदशायां नानुपपत्तिश्च काचन ॥ ४६ ॥
परमार्थदशारूढे जीवन्मुक्तेऽपि कर्मणाम् ।
भोगोऽङ्गीक्रियते सम्यग् दृश्यते च तथा सति ॥ ४७ ॥
अज्ञानां व्यवहारैकनिष्ठानां तदनन्यता ।
अभोक्तृता च केनैव वक्तुं शक्या मनीषिणा ॥ ४८ ॥
ज्ञानिनः कर्मकर्तृत्वं दृश्यमानमपि स्फुटम् ।
उत्पादयेत्फलं नेति मन्यन्ते स्वप्नकर्मवत् ॥ ४९ ॥
तद्वै युक्तं न हि स्वप्ने पापकर्तुः स्वतन्त्रता ।
जाग्रति प्राणिनः कर्मस्वातन्त्र्यं वर्तते खलु ॥ ५० ॥
तिरश्चां जागरावस्था यथा भोगैककारणम् ।
तथा स्वप्नदशा नृणां फलभोगैककारणम् ॥ ५१ ॥

इसपर वेदान्ततत्वानभिज्ञ कोई कोई पुरुष यह सन्देह करते हैं कि, जब परमात्मासे जीव कोई भिन्न वस्तु नहीं है, तब जीवको भोगका अवसर कहां है ? इसका उत्तर यह है कि, परमार्थ दशामें जीवका ब्रह्मसे अनन्यत्त्व है किन्तु व्यवहारदशामें अनन्यत्त्व नहीं है। अतः जीवको भोगमें कोई बाधा नहीं हो सकती ॥ ४१-४६ ॥ किन्तु परमार्थ दशामें आरूढ़ जीवन्मुक्त पुरुषोंमें भी कर्मोंका भोग मानागया है और ऐसा भली भांति देखा भी जाता है। फिर कौन बुद्धिमान् पुरुष अज्ञानी और केवल व्यवहारमें तत्पर मनुष्योंके साथ ब्रह्मकी अनन्यता और उनमें भोगका न होना कह सकता है ? ज्ञानियोंमें कर्मकर्तृत्व स्पष्टतया देख पड़नेपर भी वे उन कर्मोंको स्वप्नदशाके कर्मोंकी भांति मानते हैं, उन कर्मोंसे फलोत्पत्ति नहीं होती क्योंकि वे कर्म स्वप्नमें कृत कर्मोंकी तरह होते हैं और ऐसा होना ठीक भी है क्योंकि स्वप्नमें पाप करनेवालेको स्वतन्त्रता नहीं रहती, केवल जागृत् अवस्थामें प्राणी कर्म करनेमें स्वतन्त्र होते हैं ॥ ४७-५० ॥ तिर्यक् योनियोंको जागृतावस्था जिसप्रकार भोगका कारण होती है, उसी

नृणां च जागरावस्था बालानां स्यात्तथा न तु।
यूनां वृद्धतमानां वा किमुत स्वात्मवेदिनाम् ॥ ५२ ॥
भाविभोगार्थकं कर्म जाग्रत्येव नृणां भवेत्।
फलन्तु कर्मणः स्वप्ने जाग्रत्यपि च युज्यते ॥ ५३ ॥
कर्मण्यध्यस्य भोगं ये भोगेऽध्यस्याथ कर्म च।
कर्म तद्भोगयोर्भेदमज्ञात्वाहुर्यथेप्सितम् ॥ ५४ ॥
तेषां मन्दधियां ज्ञानवादिनां पापकारिणाम्।
कथं कृतार्थतां ब्रूयामध्यासक्षयसम्भवाम् ॥ ५५ ॥
कर्मण्यकर्मधीयेषामकर्मणि च कर्मधीः।
ये चाध्यासवशा मन्दा ज्ञानिनः स्वैरचारिणः ॥ ५६ ॥
वर्णाश्रमादिधर्माणामद्वैतं कर्मणैव ये।
अनुतिष्ठन्ति ते मूढाः कर्माकर्मोभयच्युताः ॥ ५७ ॥
स्वानुभूतिं वरिष्ठां तां सर्वानुष्ठानवर्जिताम्।
सर्वानुष्ठानवन्तोऽपि सिद्धामाहुर्बतात्मनाम् ॥ ५८ ॥

प्रकार मनुष्योंको स्वप्नदशा भी फलभोगका कारण होती है। मनुष्योंमें जैसी बालकोंकी जागृतावस्था होती है, वैसी युवा अथवा वृद्धोंकी नहीं होती। फिर जो आत्मज्ञानी हैं, उनकी तो बात ही क्या है॥ ४७—५२॥ जिस कर्मका भोग भविष्यत् कालमें होगा, वह कर्म मनुष्य जागृत अवस्थामें ही करते हैं, परन्तु उसका फल जागृत् और स्वप्न दोनोंमें हो सकता है। कर्ममें भोगका और भोगमें कर्मका अध्यास करके कर्म और उसके भोगके भेदको न जानते हुए जो यथेष्ट बोला करते हैं, उन मन्दबुद्धि, ज्ञानवादी, पापकारी पुरुषोंको अध्यासके क्षयसे प्राप्त होनेवाली कृतार्थता हुई है, यह क्योंकर कहा जा सकता है? जिनकी विहित कर्ममें अविहित कर्म बुद्धि और अविहित कर्ममें विहित कर्म बुद्धि है, जो अध्यासके वशीभूत हुए हैं और जो वर्ण और आश्रमआदि धर्म्मों- को केवल कर्मके ही व्याजसे विशेषता रहित एकाकार समझते हैं, वे मन्दबुद्धि स्वैर आचरण करनेवाले ज्ञानमूढ़ कर्म और अकर्म दोनोंसे च्युत हुए हैं, ऐसा जानना चाहिये। मनमाने कर्मोंकी

अभेदध्यानसाध्यां तां स्वानुभूतिं महत्तमाम्।
विचारसाध्यां मन्यन्ते ते महापापकर्मिणः ॥ ५९ ॥
निदिध्यासनमप्यात्माऽभेदाभिध्यानलक्षणम्।
उपेक्षन्ते वृथाद्वैतज्ञानवादैकमोहतः ॥ ६० ॥
आश्रित्यैव विचारं ये वाक्यार्थमननात्मकम्।
मन्यन्ते कृतकृत्यत्वमात्मनां ते हि मोहिताः ॥ ६१ ॥
आद्यज्ञानोदये काम्यकर्मत्याग उदीर्यते।
द्वितीयसम्यग्ज्ञाने तु नैमित्तिकनिराकृतिः ॥ ६२ ॥
तृतीयपूर्णज्ञाने च नित्यकर्मनिराकृतिः।
चतुर्थाद्वैतबोधे तु सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत् ॥ ६३ ॥
नित्यनैमित्तिकोपेतज्ञानान्मुक्तिः क्रमाद्भवेत्।
सम्यग्ज्ञानात्तु सा जीवन्मुक्तिर्नित्यैकसंयुतात् ॥ ६४ ॥
पूर्णज्ञानाद्विदेहाख्या शाश्वती मुक्तिरिष्यते।
यथा नैष्कर्म्यसंसिद्धिर्जीवन्मुक्ते निरङ्कुशा ॥ ६५ ॥

करनेवाले होनेपर भी वे सबप्रकारके सत् अनुष्ठानोंसे रहित अपने अनुभवको सबसे श्रेष्ठ और सिद्ध मानते हैं, यह बड़े खेदकी बात है। अभेद ध्यानसे अर्थात् ध्येयकेसाथ एकतानताकेद्वारा साध्य महान् स्वानुभवको जो विचार-साध्य अर्थात् तर्क गम्य समझते हैं, उनको महान् पापी समझना चाहिये ॥ ५३-५९ ॥ आत्माकेसाथ अभेदानुभूति रूप जो निदिध्यासन है, उसकी केवल वृथा अद्वैत ज्ञानवादके मोहसे उपेक्षा करते हैं। वाक्यार्थके मनन रूप विचारका आश्रय करके जो अपनेको कृतकृत्य समझते हैं, वे मूढ़ हैं। प्राथमिक ज्ञानके उदयसे काम्य कर्मका त्याग होता है। द्वितीय सम्यक् ज्ञानसे नैमित्तिक कर्म छूटता है। तृतीय पूर्णज्ञान होनेसे नित्य कर्म नहीं रहता और चतुर्थ अद्वैत ज्ञान होनेपर साधक अतिवर्णाश्रमी अर्थात् वर्णाश्रमके सम्बन्धसे मुक्त होता है। नित्य नैमित्तिक कर्मोंसे युक्त ज्ञानकेद्वारा क्रमशः मुक्ति होती है। नित्य कर्मकेसाथ साथ सम्यक् ज्ञान होनेसे जीवन्मुक्ति प्राप्त होती है। जिसप्रकार जीवन्मुक्तमें निरङ्कुशा नैष्कर्म्य

अत्रैवं सति नैष्कर्म्यं ज्ञानकर्मसमुच्चयात् ।
सिध्येत् क्रमेण सद्यो वा नान्यथा कल्पकोटिभिः ॥ ६६ ॥
यावद्विदेहमुक्तिस्सा न सिध्यति शरीरिणः ।
तावत्समुच्चयस्सिद्धो ज्ञानोपासनकर्मणाम् ॥ ६७ ॥
तस्माज्ज्ञात्वा परात्मानं ध्याननिष्ठो महामतिः ।
भूयान्निजाश्रमाचारनिरतश्श्रेयसे सदा ॥ ६८ ॥
ज्ञानोपास्ती कर्मसापेक्षके ते
कर्मोपास्ती ज्ञानसापेक्षके च ।
कर्मज्ञाने चान्यसापेक्षके त-
न्मुक्त्यै प्रोक्तं साहचर्यं त्रयाणाम् ॥ ६९ ॥
ज्ञानोपास्ति स्वीयकर्मस्त्वपास्या-
प्येकं मुक्तिर्नैव कस्यापि सिध्येत् ।
तस्माद्धीमानश्रयेदप्रमत्त-
स्त्रीण्युक्तानि श्रद्धया देहपातात् ॥ ७० ॥

सिद्धि होती है, वैसे ही पूर्णज्ञानसे विदेहनाम्नी शाश्वती मुक्ति होती है ॥ ६०—६५ ॥ ऐसा होनेपर ज्ञान और कर्मके समुच्चयसे क्रमशः अथवा उसी समय नैष्कर्म्य सिद्धि होती है। अन्यथा करोड़ों कल्पोंमें भी नहीं हो सकती। जबतक मनुष्यको विदेह मुक्तिकी सिद्धि प्राप्त न हो, तबतक ज्ञान, उपासना और कर्मका समुच्चय सिद्ध है। इसलिये ध्याननिष्ठ बुद्धिमान् पुरुष परमात्माको जानकर अपने कल्याणकेलिये निरन्तर आश्रमोचित आचार पालनमें निमग्न रहे। ज्ञान और उपासना कर्मकी अपेक्षा रखते हैं, कर्म और उपासना ज्ञानकी अपेक्षा रखते हैं तथा कर्म और ज्ञान उपासनाकी अपेक्षा रखते हैं। अतः मुक्तिकेलिये तीनोंका साहचर्य कहा गया है ॥ ६६—६९ ॥ ज्ञान, उपासना एवं कर्ममेंसे किसी एकको भी छोड़कर किसीकी मुक्ति नहीं हो सकती। अतः बुद्धिमान् मनुष्य अप्रमत्त होकर मरण पर्यन्त तीनोंका श्रद्धा पूर्वक आश्रय करें। यज्ञ, दान और तपरूपी कर्मका कभी त्याग नहीं

यज्ञदानतपःकर्म्म न त्याज्यं कार्य्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ ७१ ॥

एतान्यपि तु कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्त्तव्यानीति मुनयो निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ ७२ ॥

नियतस्य तु सन्न्यासः कर्म्मणो नोपपद्यते ॥
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्त्तितः ॥ ७३ ॥

दुःखमित्येव यत्कर्म्म कायक्लेशभयात् त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥ ७४ ॥

कार्य्यमित्येव यत्कर्म्म नियतं क्रियते बुधाः ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलश्चैव स त्यागः सात्विको मतः ॥ ७५ ॥

इति श्रीसूर्य्यगीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे सूर्य्यर्षिसम्वादे कर्म्मरहस्यनिरूपणं नाम तृतीयोऽध्यायः ।

करना चाहिये, उनको करना ही उचित है। क्योंकि यज्ञ, दान और तप मनीषियोंको भी पवित्र करनेवाले हैं। ये सब कर्म संग त्याग कर और फलेच्छा रहित होकर करने चाहिये। हे मुनिगण! यही मेरा निश्चित और उत्तम मत है। नित्य कर्मोंका त्याग करना योग्य नहीं। यदि कोई अज्ञानसे नित्य कर्मोंका त्याग करे, तो वह तामसिक त्याग होगा। जो कर्म दुःखजनक समझकर काया क्लेशके भयसे छोड़ा जाता है, वह राजस त्याग है, उससे सच्चे त्यागका फल नहीं होता। हे पण्डितगण! जो कर्म करना उचित है, वह जब निःसङ्ग और फलाशारहित होकर निरन्तर किया जाता है, तब उस त्यागको सात्त्विक त्याग कहते हैं, ॥ ७०—७५ ॥

इसप्रकार श्रीसूर्यगीतोपनिषद्के ब्रह्मविद्यासम्बन्धि सूर्यर्षि सम्वादात्मक योगशास्त्रका कर्मरहस्यनिरूपणनामक तृतीय अध्याय समाप्त।

॥ अथ चतुर्थोऽध्यायः ॥

ऋषय ऊचुः ॥ १ ॥

जगद्गुरो ! वयं श्रुत्वाऽधिदैवं परमाद्भुतम् ।
रहस्यं परमं तृप्ताः परया तेऽनुकम्पया ॥ २ ॥
तथाधिदैवीं शक्तिन्तेऽनुभूय वयमद्भुताम् ।
अनन्तामाधिदैवीञ्च विभूतिं स्म चमत्कृताः ॥ ३ ॥
ततोऽस्मान् कृतकृत्यत्वं नेतुं वर्णितवान्भवान् ।
पञ्चोपास्तिरहस्यं यत् पञ्चोपास्तिकृते विभो ! ॥ ४ ॥
पञ्चानां सगुणानां स्वमूर्तीनां भेदतोऽधुना ।
तेन सर्वे वयं योग्या जाताः स्मो वेदितुन्तव ॥ ५ ॥
किञ्चिदेव पराभक्तेः स्वरूपं पापनाशनम् ।
ततस्तेऽनाद्यनन्तस्य स्वरूपस्य सहायतः ॥ ६ ॥
ज्ञात्वा स्थानेषु सर्वेषु व्याप्तस्याद्भुतकर्म्मणः ।
रहस्यं परमं तद्वत्कर्म्मशक्तिं विमोहिनीम् ॥ ७ ॥
सावधाना वयं जाता इदानीं कृपया विभो ! ।
कर्म्मणोऽपरिहार्य्यस्य दुर्बोधस्याद्भुतस्य च ॥ ८ ॥
विभागान् वर्णयित्वाऽस्मान् मोचयेः कर्म्मबन्धनात् ॥ ९ ॥

ऋषिगणने कहा ॥ १ ॥

हे जगद्गुरो ! आपकी आपार कृपासे हमलोग अधिदैव रहस्य सुनकर एवं आपकी अनन्त अधिदैव विभूतियों और अधिदैव शक्तियोंका अनुभव करके चमत्कृत हुए ॥ २-३ ॥ तत्पश्चात् आपने हम लोगोंको कृतकृत्य करनेकेलिये जो पञ्चोपासना जनित पांचप्रकारकी आपकी सगुणमूर्तिके भेदसे पञ्चोपासनाका रहस्य वर्णन किया उससे हम सब आपकी पराभक्तिका कुछ स्वरूप समझनेमें समर्थ हुए हैं। तदनन्तर आपके अनादि अनन्त रूप-के सदृश सर्व स्थानोंमें व्याप्त कर्मका विस्तारित रहस्य और कर्म-शक्ति विदित होकर हम सब सावधानताको प्राप्त हुए हैं। हे कृपानिधे ! अपरिहार्य्य और दुर्बोध कर्मके विभागोंका वर्णन करके अब हम लोगोंको कर्म्म बन्धनसे विमुक्तिका पथ प्रदर्शन करिये ॥ ४-९ ॥

सूर्य उवाच ॥ १० ॥

ऋषयस्सम्प्रवक्ष्यामि कर्मणां पञ्च भूमिकाः ।
उत्तरोत्तरमुत्कर्षाद्वित्त सोपानपङ्क्तिवत् ॥ ११ ॥
प्रथमा तान्त्रिकी प्रोक्ता परा पौराणिकी मता ।
स्मार्ता तृतीया तुर्या तु श्रौता सङ्कीर्तिता बुधैः ॥ १२ ॥
पञ्चमी त्वौपनिषदी विबुधोत्तमसम्मता ।
यस्याः परं न किञ्चित्स्याद्वाच्यं ज्ञेयं च सत्तमाः!॥ १३ ॥
स्वेच्छं कर्माणि कुर्वन्यः प्रमाणाश्रयणं विना ।
तन्त्रोक्तानि करोत्येष कर्मी प्राथमिको मतः ॥ १४ ॥
तानि तन्त्रोक्तकर्माणि त्यक्त्वा पौराणिकानि यः ।
करोति तन्त्रसम्बन्धीन्ययं कर्मी द्वितीयकः ॥ १५ ॥
त्यक्त्वा तान्यपि यः स्मार्तान्यनुतिष्ठति सर्वदा ।
श्रुतिसम्बन्धवन्त्येष तृतीयः कर्म्युदीर्यते ॥ १६ ॥
यश्च तान्यपि सन्त्यज्य श्रौतान्येवाचरत्ययम् ।
कर्मी धर्मार्थकामानां स्थानं तुर्योऽभिधीयते ॥ १७ ॥

श्रीसूर्यदेवने आज्ञा की ॥ १० ॥

अब कर्मकी पांच भूमिकायें कहता हूँ, जो उत्तरोत्तर उत्कृष्ट होनेसे सोपान परम्पराके समान हैं। पहिली भूमिका तान्त्रिकी, दूसरी पौराणिकी, तीसरी स्मार्ता और पण्डितोंने चौथी-का नाम श्रौता कहा है तथा उत्तम विद्वानोंके मतसे पांचवीं कर्म-भूमिका नाम औपनिषदी है। और हे सज्जनों! जिस अवस्थासे परे न कुछ कहने योग्य है और न जानने ही योग्य है ॥ ११-१३ ॥ स्वेच्छासे किसी अन्य प्रमाणका आश्रय किये बिना जो तन्त्रोक्त कर्म करता है, वह प्राथमिक कर्मी है ॥ १४ ॥ उन तन्त्रोक्त कर्मोंको छोड़कर जो तन्त्र सम्बन्धी पौराणिक कर्म करता है, वह द्वितीय कर्मी है ॥ १५ ॥ उनको भी छोड़कर जो श्रुति सम्बन्धी स्मार्त्त कर्म करता है, वह तृतीय कर्मी है ॥ १६ ॥ और जो उन स्मार्त कर्मोंको भी छोड़कर केवल श्रौत कर्मोंका ही आचरण करता है, वह चतुर्थ कर्मी है और वही धर्म, अर्थ तथा कामका आश्रय कहा गया है ॥ १७ ॥

श्रौतान्यपि च यस्त्यक्त्वा सदौपनिषदानि वै ।
करोति श्रद्धया कर्माण्ययं मोक्षी तु पञ्चमः ॥ १८ ॥
यान्यौपनिषदानां स्युरविरोधीनि कर्मणाम् ।
श्रौतादीनि सुसंग्राह्यान्यमलानि मुमुक्षुभिः ॥ १९ ॥
कर्माण्युपनिषत्सु स्युर्ब्रह्मैकार्थासु वै कथम् ।
इत्याशङ्क्य न कुर्वन् हि विधिरस्ति जिजीविषेत् ॥ २० ॥
ईशावास्यादिवेदान्तप्रोक्तान्यामरणादपि ।
कुर्वन्नेव विमुच्येत ब्रह्मवित्प्रवरोऽस्तु वा ॥ २१ ॥
यतयस्त्यक्तगार्हस्थ्या अपि स्वोचितकर्मभिः ।
आश्रमं पालयन्तस्स्वं कैवल्यं प्राप्नुयुः परम् ॥ २२ ॥
कर्मप्रजाधनानां यस्त्यागस्समभिधीयते ।
कामैकविषयत्वेन स यतेर्न विरुध्यते ॥ २३ ॥
संन्यासिनो हि कर्माणि नित्यानि विमलानि च ।
श्रेयोऽर्थानि विधीयन्ते परिव्राजेऽब्जजन्मना ॥ २४ ॥

श्रौत कर्मोंको भी छोड़कर जो श्रद्धा पूर्वक केवल उपनिषदोक्त कर्म ही करता है, वह पञ्चम कर्मी है और वही मोक्षका अधिकारी है ॥ १८ ॥ उपनिषद् सम्बन्धी कर्मोंके जो अविरोधी श्रौतादि पवित्र कर्म हों, मुमुक्षुओंको उनका संग्रह करना चाहिये ॥ १९ ॥ केवल ब्रह्मप्रतिपादक उपनिषदोंमें कर्मका विधान कैसे हो सकता है, इसप्रकारके विचारोंको लेकर कर्म करते हुए भी महात्मा लोग शरीर धारण करते हैं, ऐसी भी विधि है ॥ २० ॥ इसीप्रकार कोई ब्रह्मवित् प्रवर महात्मा ईशावास्यादि उपनिषदोंके जगत्को ही ब्रह्म माननेवाले सिद्धान्तोंका अनुसरण करते हुए अपने शरीरपात पर्यन्त कर्म करते हैं ॥ २१ ॥ तृतीयतः गृहस्थाश्रमत्यागी सन्न्यासीगण भी अपने आश्रमोचित कर्मोंका अनुष्ठान करते हुए परम कैवल्य पदको प्राप्त कर सकते हैं ॥ २२ ॥ केवल काममूलक होनेसे ही कर्म प्रजा और धनोंका त्याग कहा गया है । अतः यतिके जीवनकेसाथ ऐसे त्यागका विरोध नहीं है ॥ २३ ॥ परिव्राट् अवस्थामें संन्यासियोंके पवित्र नित्य कर्म केवल कल्याणकेलिये

अपेतकाम्यकर्माणो यतयोन्येऽपि वा जनाः।
सद्यः क्रमेण वा मुक्तिमाप्नुयुर्नात्र संशयः॥ २५॥
पञ्चमीं भूमिमारूढः ज्ञानोपासनकर्मभिः।
शोकमोहादिनिर्मुक्तः सर्वदैव विराजते॥ २६॥
न ज्ञानेन विनोपास्तिर्नोपास्त्या च विनेतरत्।
कर्मापि तेन हेतुत्वं पूर्वपूर्वस्य कथ्यते॥ २७॥
श्रद्धा यावन्नहि ज्ञानं तावन्नोपासनं मतम्।
यावन्नोपासनं तावन्न ज्ञानं च कथञ्चन॥ २८॥
ज्ञानं यावन्न कर्मापि न तावन्मुख्यमीर्यते।
यावन्न कर्म तावच्च न ज्ञानं साधुसम्मतम्॥ २९॥
यावन्नोपासनं तावन्न कर्मापि प्रशस्यते।
यावन्न कर्मोपास्तिश्च न तावत्सात्विकी मता॥ ३०॥
ज्ञानोपासनकर्माणि सापेक्षाणि परस्परम्।
प्रयच्छन्ति परां मुक्तिं नान्यथेत्युक्तमेव वः॥ ३१॥

ब्रह्माजीने कहे हैं॥ २४॥ चाहे यति हो या और कोई हो, जो निष्काम कर्म करते हों, वे उसी समय वा क्रमशः मुक्ति पाते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं॥ २५॥ ज्ञान, उपासना और कर्मकेद्वारा जो पांचवीं भूमि में आरूढ़ हो गया है, वह सर्वदा शोक मोहआदिसे मुक्त होकर शोभायमान होता है॥ २६॥ ज्ञानके विना उपासना नहीं होती है और उपासनाकेविना कर्म भी नहीं होता है। अतः ज्ञान उपासनाका और उपासना कर्मकी हेतु है॥ २७॥ अथवा जबतक ज्ञान नहीं, तब तक उपासना नहीं हो सकती और उपासनाके विना कदापि ज्ञान नहीं प्राप्त होता॥ २८॥ जबतक ज्ञान नहीं है, तबतक कर्मकी प्रधानता नहीं होसकती और जबतक कर्म नहीं है, तबतक ज्ञानकी प्रधानता साधुसम्मत नहीं है॥ २९॥ जबतक उपासना नहीं है, तबतक कर्मकी प्रधानता नहीं है और जबतक कर्म नहीं, तबतक उपासना सात्त्विक नहीं कही जा सकती॥ ३०॥ यह मैं आप लोगोंको पहिले ही कह चुका हूँ कि, ज्ञान, उपासना और कर्म परस्पर सापेक्ष हैं और ये ही परम मुक्तिको प्रदान करते हैं।

एतेषु साधनेष्वेकं त्रिषु यत्किञ्चिदत्र यः ।
त्यजेदसद्गुरूक्त्या स नाश्नुवीत परामृतम् ॥ ३२ ॥
नानाविधानि ज्ञानानि नानारूपा उपास्तयः ।
नानाविधानि कर्माणि श्रुत्यन्तादिषु संविदुः ॥ ३३ ॥
सम्बन्धस्तु त्रयाणां स्यादुचितश्शिष्टवर्त्मना ।
निपुणैश्च सुविज्ञेयमनुबन्धचतुष्टयम् ॥ ३४ ॥
अनुबन्धाविरोधेन त्रयाणां चेत्समुच्चयः ।
कृतस्स सद्यः प्राप्नोति तृप्तिं मानवपुङ्गवः ॥ ३५ ॥
अनुबन्धपरिज्ञानं विना मुक्त्यै प्रयत्नवान् ।
न मुक्तिं विन्दते कोऽपि साधकादिविपर्ययात् ॥ ३६ ॥
भोगाधिकारी मोक्षं चेत्फलमिच्छेत्कदाचन ।
अनुबन्धस्य विज्ञानं कथन्नु स्यात्समञ्जसम् ॥ ३७ ॥
अधिकारानुगुण्येन सम्बन्धः परिकीर्तितः ।
तत्सम्बन्धानुगुण्येन विषयश्च प्रकीर्त्तितः ॥ ३८ ॥

अन्यथा मुक्ति नहीं होती ॥ ३१ ॥ इन तीनोंमेंसे किसी एकको असद्गुरुके उपदेशसे यदि कोई छोड़ दे, तो वह परम मुक्तिदशाको नहीं पा सकता है ॥ ३२ ॥ श्रुतिआदि ग्रन्थोंमें नानाप्रकारके ज्ञान, नानाप्रकारकी उपासनायें और नानाप्रकारके कर्मोंका उल्लेख है ॥ ३३ ॥ इन तीनोंका उचित सम्बन्ध शिष्टसम्मत मार्गसे जानना चाहिये और विद्वानोंकेद्वारा इनका अनुबन्धचतुष्टय भी जानना चाहिये ॥ ३४ ॥ अनुबन्धचतुष्टयके अविरोधसे जिसने तीनोंका समुच्चय किया है, वह नरश्रेष्ठ उसी समय शान्ति प्राप्त करता है ॥ ३५ ॥ अनुबन्धज्ञानकेविना जो मुक्तिकेलिये प्रयत्न करता है, वह अधिकार और अधिकारिविपर्यय होनेसे मुक्ति नहीं पाता ॥ ३६ ॥ यदि कोई भोगाधिकारी मोक्षकी इच्छा करे, तो अनुबन्धचतुष्टय-का ज्ञान ठीक-ठीक कैसे होगा ? ॥ ३७ ॥ उसका सिद्धान्त यह है कि, अधिकारकेअनुसार सम्बन्ध कहा गया है और उस सम्बन्धके अनुसार विषय होता है ॥ ३८ ॥ और विद्वानोंने विषयकेअनुसार

विषयानुगुणं प्रोक्तं प्रयोजनमतो बुधैः।
अनुबन्धास्तुविज्ञेया ज्ञानोपासनकर्मसु॥ ३९॥
वर्णाश्रमाणां सर्वेषामनुष्ठेयेषु कर्मसु।
अविद्वान् संशयात्मा चेदनुवर्तेत पूर्वकान्॥ ४०॥
विद्वांश्चेत्संशयात्माभूच्छास्त्रे स्वमतिनिश्चितम्।
आचरेत्तु न शिष्टस्याप्यबुधस्य पितुर्मतम्॥ ४१॥
पूर्वाचारानुसरणं कर्ममात्रे नियम्यते।
ज्ञानोपास्त्योस्त्ववबाह्यत्वादन्यथाऽपि चयुज्यते॥ ४२॥
स्वकुलस्थबुधाचारस्साधुसंविदितो यदि।
विद्वानपि त्यजेत्स्वीयं तद्विरुद्धमसम्मतम्॥ ४३॥
पूर्वकेष्वपि साङ्ख्येषु स्वस्य युज्येत योगिता।
अन्यथाऽपि च नैतेन प्रत्यवायः कियानापि॥ ४४॥

प्रयोजन माना है। ज्ञान, उपासना और कर्म इन सबके ये ही पूर्व कथित चार अनुबन्ध जान लेने चाहिये॥ ३९॥ समस्त वर्ण और आश्रमोंमें आचरण करने योग्य कर्मोंके सम्बन्धमें यदि किसी अज्ञानीको सन्देह उत्पन्न हो, तो पूर्वपरम्परासे जैसा वह कर्म होता आया हो, वैसा उसको करना चाहिये॥ ४०॥ और विद्वान्‌को यदि उक्त कर्मोंमें किसीप्रकारका सन्देह उत्पन्न हो, तो उसको उचित है कि, शास्त्रद्वारा अपने विचारको निश्चय करके उस कर्म्मका आचरण करे परन्तु ऐसे अवसरमें पूज्य पिता यदि अविद्वान् हों, तो उनका भी मत स्वीकार नहीं करना चाहिये॥ ४१॥ कुलाचारका अनुसरण केवल कर्म्मके विषयमें ही योग्य है। अन्तःराज्यके साथ सम्बन्ध होनेसे ज्ञान और उपासनाके विषयमें अन्यथाचरण भी हो सकता है॥ ४२॥ अतः अपने कुलके विद्वानोंका आचार उसके विरुद्ध और असाधुसम्मत होनेपर छोड़ देना चाहिये॥ ४३॥ कुलपरम्पराके ज्ञान और उपासना, अपने ज्ञान और उपासनासे मिलाये जा सकते हैं और अन्यथा भी हो, तो कोई प्रत्यवाय नहीं है॥ ४४॥ परन्तु कुल परम्पराचरित कर्मोंके

यदि पूर्वविरोधेन कुर्यात्कर्माणि मानवः।
स मूर्खो भवति क्षिप्रं प्रत्यवायी न संशयः॥ ४५॥
नैमित्तिकानामकृतौ काम्यानां च न कश्चन।
प्रत्यवायोऽत्र वाऽमुत्र लोके भवितुमर्हति॥ ४६॥
नित्यानान्त्वकृतावत्रामुत्र वा प्रत्यवायभाक्।
भवेदवश्यकार्यत्वादाश्रमच्युतिहेतवे॥ ४७॥
अज्ञानाद्विहिते लुप्ते ज्ञानाद्वा कर्मणि स्वके।
प्रायश्चित्ती भवेन्मर्त्यो लभेद्दुर्जन्म वा पुनः॥ ४८॥
बुद्धिपूर्वं त्यजन्नित्यमनुतापविवर्जितः।
अनाश्रमी नरो घोरं रौरवं नरकं व्रजेत्॥ ४९॥
जीवन्मुक्तस्य नित्येषु यदि लुप्तानि कानिचित्।
न तेन प्रत्यवायोऽस्ति कश्चित्स्वाश्रमसिद्धितः॥ ५०॥
प्रायश्चित्तनिवर्त्यानि निषिद्धाचरणानि च।
प्रायश्चित्तमकुर्वन्तमपि लिम्पन्ति नैव तम्॥ ५१॥

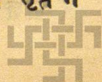
विरुद्ध यदि मनुष्य कर्माचरण करे, तो निःसन्देह वह मूर्ख शीघ्र प्रत्यवायी होता है॥ ४५॥ नैमित्तिक और काम्य कर्मोंको न करनेसे इहलोक और परलोकमें किसीप्रकारका प्रत्यवाय नहीं हो सकता॥ ४६॥ परन्तु नित्य कर्मोंके छोड़ देनेसे इहलोक और परलोक दोनोंमें प्रत्यवाय होगा क्योंकि नित्यकर्म अवश्य कर्तव्य हैं और उनके न करनेसे अपने आश्रमसे च्युति होती है॥ ४७॥ अज्ञानसे अथवा ज्ञानसे अपने विहित कर्मका यदि लोप करे, तो वह मनुष्य प्रायश्चित्ती होगा अथवा उसे अन्य जन्ममें नीच योनि प्राप्त होगी। बुद्धिपूर्वक पश्चात्तापरहित होकर यदि कोई नित्यकर्मका त्याग करे, तो वह अनाश्रमी पुरुष घोर रौरव नरकमें गिरता है। जीवन्मुक्तके नित्यकर्मोंमेंसे यदि कोई लोप हो जाय, तो अपने उस आश्रमकी सिद्धि हो जानेसे उसे किसीप्रकारका प्रत्यवाय नहीं होता॥ ४८-५०॥ प्रायश्चित्तसे निवृत्त होनेवाले निषिद्ध आचरणोंका यदि जीवन्मुक्त महापुरुष प्रायश्चित्त न करे, तोभी उसको दोष नहीं लगता। शुद्ध और अशुद्ध इसप्रकारसे कर्म दोप्रकारके

कर्म शुद्धमशुद्धं च द्विविधं प्रोच्यते श्रुतौ ।
तत्राशुद्धेन बन्धस्स्यान्मोक्षश्शुद्धेन देहिनाम् ॥ ५२ ॥
अशुद्धं च तथा प्रोक्तं पुण्यं पापमिति द्विधा ।
परस्परं न बाधोऽस्ति तयोरत्राविरोधतः ॥ ५३ ॥
सुखदुःखे समस्तस्य जन्तोर्याभ्यां प्रसिध्यत ।
तयोर्न वशमागच्छेच्छुद्ध मात्रेण संस्थितः ॥ ५४ ॥
शुद्धं नित्यमनन्तं यत्सत्यं कर्म निगद्यते ।
नित्यशुद्धविमुक्तात्मसाक्षात्कारार्थकं विदुः ॥ ५५ ॥
विशुद्धैः कर्मभिश्शुद्धानीन्द्रियाणि भवन्त्यलम् ।
इन्द्रियेषु विशुद्धेषु मनश्शुद्धं स्वतो भवेत् ॥ ५६ ॥
शुद्धे मनसि जीवोऽपि विशुद्धो ब्रह्मणैकताम् ।
उपेत्य केवलानन्दं निष्कलं परमश्नुते ॥ ५७ ॥
बाह्यमाभ्यन्तरश्चेति शुद्धं कर्म द्विधोच्यते ।
बाह्यं स्नानादि नित्यं स्याद्ध्यानाद्याभ्यन्तरं परम् ॥ ५८ ॥

वेदोंमें कहे गये हैं । उनमेंसे अशुद्ध कर्मोंद्वारा मनुष्यको बन्ध और शुद्धकर्मोंद्वारा मोक्ष होता है। अशुद्ध कर्म पुण्य पाप रूपसे द्विविध होते हैं। उनका अविरोध होनेसे वे परस्परमें बाधक नहीं होते अर्थात् पुण्यसे पापका और पापसे पुण्यका नाश नहीं होता। उन्हीं दोनोंसे प्राणिमात्रके सुख-दुख उत्पन्न होते हैं, इसलिये उनके वशीभूत न होकर शुद्ध कर्माचरण में ही रत रहना चाहिये। शुद्धकर्म नित्य, अनन्त और सत्य हैं तथा वे नित्य, शुद्ध और विमुक्त आत्माका साक्षात्कार करानेवाले कहे गये हैं। विशुद्ध कर्मोंसे इन्द्रियाँ शुद्ध होती हैं और इन्द्रियोंके शुद्ध होनेसे मन स्वयं शुद्ध हो जाता है। मन शुद्ध होनेसे जीव विशुद्ध होकर और ब्रह्मकेसाथ एकता प्राप्त कर निष्कल और परम केवल आनन्दको प्राप्त करता है ॥ ५१-५७ ॥ शुद्धकर्म भी बाह्य और आभ्यन्तर इसप्रकारसे द्विविध हैं । बाह्य कर्म स्नानादि और आभ्यन्तर कर्म ध्यानादि हैं । इसप्रकार शुद्ध कर्माचरणसे शुद्धि प्राप्त होनेपर अशुद्ध कर्मोंका नाश हो जाता है। शुद्धकर्मोंके

अतश्शुद्धैरशुद्धानां नाशो भवितुमर्हति।
न शुद्धव्यतिरेकेण प्रयत्नान्तरमिष्यते ॥ ५९ ॥
विशुद्धकर्मनिष्ठास्ते यतयोऽन्येऽपि वा जनाः।
अत्रैव परिमुच्यन्ते स्वातन्त्र्येण परामृतात् ॥ ६० ॥
आरूढः पञ्चमीं भूमिं शुद्धेनैवावतिष्ठते।
अतोऽत्र मतिमान्नित्यं पञ्चम्यभ्यासमाचरेत् ॥ ६१ ॥
इन्द्रियाणि विशुद्धान्यप्यशुद्धानां विवर्जनात्।
शुद्धानामप्यनुष्ठानाद्धीमांस्तानि न विश्वसेत् ॥ ६२ ॥
अशुद्धेषु प्रवर्तेरन् पूर्ववासनया स्वतः।
तेभ्यो नियम्य शुद्धेषु नित्यं तानि प्रवर्तयेत् ॥ ६३ ॥
इन्द्रियाणाञ्च मनसः प्रसादं शुद्धकर्मभिः।
उपलभ्यापि दुर्बुद्धिरशुद्धे हा प्रवर्तते ॥ ६४ ॥
प्रसन्नमनसस्स्वास्थ्यात्सुखं किञ्चित्प्रजायते।
तावन्मात्रेण तृप्तस्तु क्रमेणाधः पतन्नरः ॥ ६५ ॥

सिवाय अशुद्ध कर्मोंका नाश करनेकेलिये और कोई उपाय नहीं है। विशुद्ध कर्म करनेवाले संन्यासी अथवा इतर मनुष्य कैवल्य प्राप्त कर स्वतन्त्रतासे इहलोकमें ही मुक्त हो जाते हैं। शुद्ध कर्मोंके अनुष्ठानसे साधक पूर्वकथित पांचवीं भूमिमें आरूढ़ हो कर रहता है, इसलिये बुद्धिमान् पुरुषको पांचवीं भूमिकाका अभ्यास करना चाहिये। अशुद्ध कर्मके त्याग और शुद्धकर्मके अनुष्ठानसे इन्द्रियों-के विशुद्ध होनेपर भी उनपर विश्वास नहीं करना चाहिये क्योंकि पूर्ववासनासे वे पुनः अशुद्ध कर्मोंकोओर झुकसकती हैं। इसलिये उनको अशुद्ध कर्मोंसे रोककर सर्वदा शुद्ध कर्मोंकीओर प्रवृत्त करना चाहिये। शुद्धकर्मोंसे इन्द्रियों और मनको प्रसन्नता प्राप्त होनेपर भी दुर्बुद्धि मनुष्य अशुद्ध कर्मोंमें प्रवृत्त होता है, यह बड़े खेदका विषय है ॥ ५८-६४ ॥ प्रसन्न मनके स्वस्थ रहनेसे कुछ सुख होता है; परन्तु उतने ही सुखसे जो मनुष्य तृप्त होजाता है, वह पुनः क्रमशः अधोगतिको पहुँचता है। अल्पसुख प्राप्त होने-पर तृप्ति लाभ करना महान् अनर्थका कारण है। इसलिये तृप्त न



तृप्तिरल्पसुखप्राप्तौ महानर्थैककारणम् ।
अतस्तृप्तिमनाप्यैव शुद्धं नित्यं समाचरेत् ॥ ६६ ॥
यथा विषयभोगेषु विना तृप्तिं पुनः पुनः ।
प्रवर्त्तते तथा नित्यं यश्शुद्धेषु स बुद्धिमान् ॥ ६७ ॥
शुद्धं शुद्धेन वर्द्धेत शुद्धश्शुद्धं ततो व्रजेत् ।
अशुद्धमप्यशुद्धेनाशुद्धोऽशुद्धं तथा नरः ॥ ६८ ॥
यदेन्द्रियमनःप्राणाः शान्तास्सुप्ताविवाभवन् ।
शुद्धाशुद्धोभयातीतस्तदा तृप्तिं परा व्रजेत् ॥ ६९ ॥
यावन्नेन्द्रियसंशान्तिर्यावन्न मनसोऽप्ययः ।
यावन्न प्राणशांन्तिश्च तावच्छुद्धं समाचरेत् ॥ ७० ॥
परस्परोपयोगित्वाद्बाह्याभ्यन्तरशुद्धयोः ।
वियोगो नैव कार्योऽत्र बुधैरादेहमोचनात् ॥ ७१ ॥
शुद्धपक्षद्वयोर्हंस ऊर्ध्वं गच्छति चाम्वरे ।
अशुद्धपक्षः श्येनस्तु व्योमगोऽपि पतत्यधः ॥ ७२ ॥

होकर ही सर्वदा शुद्ध कर्माचरण करते रहना चाहिये। जिसप्रकार मनुष्य विषयभोगमें तृप्ति न पाकर पुनःपुनः प्रवृत्त होता है, उसी· प्रकार जो नित्यप्रति शुद्ध कर्माचरण करता है, वही बुद्धिमान् है। मनुष्यको चाहिये कि, शुद्धसे शुद्धकी वृद्धि करे और शुद्ध होकर शुद्धको प्राप्त करे अथवा अशुद्धसे अशुद्धको बढ़ावे और अशुद्धको अर्थात् अवागमनको अशुद्ध होकर प्राप्त करे। जब इन्द्रिय मन और प्राण सुषुप्ति अवस्थाकी तरह शान्त हो जायँ, तब शुद्ध और अशुद्ध दोनों अवस्थाओंसे अतीत होकर मनुष्य परम तृप्तिको लाभ करेगा। जबतक इन्द्रियोंकी अच्छीतरह शान्ति और मनोनाश एवं प्राणकी शान्ति न हो जाय, तबतक शुद्धकर्म करता रहे। जबतक शरीर है, तबतक विद्वज्जन बाह्य और आभ्यन्तर शुद्ध कर्मोंका वियोग न करें क्योंकि दोनों परस्पर उपयोगी हैं ॥ ६५-७१ ॥ बाह्य और आभ्यन्तर रूपसे दोनों शुद्ध कर्मोंको करनेवाला मनुष्य आकाशमें उड़नेवाले हंसकी तरह ऊपरको अर्थात् ऊर्ध्व गतिको ही जाता है एवं पुण्य पापात्मक दोप्रकार-के अशुद्ध कर्मोंको करनेवाला मनुष्य आकाशमें उड़नेवाले श्येन (बाज) की तरह नीचे ही गिरता है अर्थात् वह स्वर्गमें जाकर भी

छिन्नैकपक्षो हंसोपि नोर्ध्वं गन्तुमितोऽर्हति।
अतश्शुद्धद्वयं मुख्यं साधनं मुक्तये विदुः॥ ७३॥
यद्यप्याभ्यन्तरं शुद्धं बाह्यशुद्धनिवर्तकम्।
भवत्येतेन साम्यन्न तयोरिति च केचन॥ ७४॥
तथापि बाह्यविलयसमकाललयात्परम्।
आभ्यन्तरं समं तेन बाह्येन स्यात्स्वकर्मणा॥ ७५॥
आभ्यन्तरञ्च तच्छुद्धं कर्म द्विविधमुच्यते।
सम्प्रज्ञातसमाध्याख्यमसम्प्रज्ञातनाम च॥ ७६॥
जीवन्मुक्तेः पुरा वृत्तमाद्यं कर्म स्वमानसम्।
पुरा विदेहमुक्तेस्तु वृत्तमन्यत्स्वमानसम्॥ ७७॥
मानसत्वात्समाधेश्च कर्मत्वोक्तिर्न दूष्यते।
अनन्यविषयत्वाच्च तत्फलं नैव नश्वरम्॥ ७८॥
अन्तश्शुद्धिर्बहिश्शुद्धिं यथा नृणामपेक्षते।
बहिश्शुद्धिस्तथैवान्यः शुद्धिं च नियमेन हि॥ ७९॥

पुनः अधोगतिको प्राप्त होता रहता है। यदि हंसका ही एक पक्ष छिन्न हो जाय, तो वह ऊपर नहीं उड़ सकता। इसलिये, मुक्तिकेलिये दोनोंप्रकारके शुद्ध कर्मोंका आचरण करना मुख्य साधन माना गया है। यद्यपि आभ्यन्तर शुद्ध कर्म बाह्य शुद्ध कर्मोंका निवर्त्तक है, अतः दोनोंकी साम्यता करना वृथा है, ऐसा कोई कोई कहते हैं, तथापि बाह्य कर्मोंका विलय होनेकी समकालीन अवस्थाके पश्चात् अपने बाह्य और आभ्यन्तरिक कर्म समान हो जाते हैं। आभ्यन्तर शुद्ध कर्म भी दो प्रकारके होते हैं। एक सम्प्रज्ञात समाधिरूप और द्वितीय असम्प्रज्ञात समाधिरूप। जीवन्मुक्तिके पहिले जो अपना मानसिक वृत्त है, वह प्रथम अर्थात् सम्प्रज्ञात नामक है और विदेहमुक्तिके पहिले जो अपना मानसिक वृत्त है, वह द्वितीय अर्थात् असम्प्रज्ञात नामक है। समाधिका मनसे सम्बन्ध होनेसे उसे कर्म कहनेमें दोष नहीं है। उसका विषय अनन्य एकमात्र ब्रह्म होनेसे उसका फल भी नश्वर नहीं है॥ ७२॥ मनुष्योंकेलिये अन्तःशुद्धिकेसाथ जैसी बाह्य शुद्धिकी अपेक्षा रहती है, वैसी बाह्य शुद्धिके साथ नियमपूर्वक अन्तःशुद्धि की भी अपेक्षा रहती है॥ ७९॥

प्रारब्धकर्म्मणा जन्तोः शरीरं जायते क्षितौ ।
तस्यापि त्रिविधा प्रोक्ता गतिस्तत्र मनीषिभिः ॥ ८० ॥
प्रथमा मानसी वृत्तिः सा सङ्कल्पविकल्पिका ।
द्वितीया जीवप्रकृतिं जनयत्यनिशं भुवि ॥ ८१ ॥
गत्या तृतीययोत्पन्ना भोगायुर्जातयः किल ।
नियतं कर्म कुरुत कर्म्मज्यायो ह्यकर्मणः ॥ ८२ ॥
शरीरयात्रापि च वो न प्रसिध्येदकर्म्मणाम् ।
मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ॥ ८३ ॥
मदर्थमपि कर्माणि कुर्व्वन् सिद्धिमवाप्स्यति ।
कर्मण्यकर्म्म यः पश्येदकर्म्मणि च कर्म्म यः ॥
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्म्मकृत् ॥ ८४ ॥

इति श्रीसूर्य्यगीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे सूर्य्यर्षि-सम्वादे कर्म्मविभाग-निरूपणं नाम चतुर्थोऽध्यायः ।

प्रारब्ध कर्मसे प्राणिमात्रको भूलोकमें शरीर प्राप्त होता है । मनीषिगणके मतानुसार उसकी त्रिविध गति होती है। पहिली मानसीवृत्ति जो सङ्कल्पविकल्पात्मक कही गयी है। दूसरी, निरन्तर जीव प्रकृतिको उत्पन्न करती है और तृतीय गतिसे भोग, आयु और जाति उत्पन्न होती है। तुम नियमित रूपसे कर्म करो क्योंकि अकर्मसे कर्म श्रेष्ठ है। अकर्मसे तो तुम्हारी शरीरयात्रा भी नहीं हो सकती। मेरे सम्बन्धी कर्म करनेवाला, मुझमें रत और मेरा भक्त बनकर सङ्ग छोड़कर यदि मेरेलिये ही कर्म करे, तो सिद्धि प्राप्त करेगा। कर्ममें जो अकर्म और अकर्ममें कर्म देखे, वही मनुष्योंमें बुद्धिमान् है और वही योगी और यथार्थ कर्मी है ॥ ८०-८५ ॥

इसप्रकार श्रीसूर्य्यगीतोपनिषद्के ब्रह्मविद्यासम्बन्धि सूर्य्यर्षि-सम्वादात्मक योगशास्त्रका कर्म विभाग निरूपणनामक चतुर्थ अध्याय समाप्त।



॥ अथ पञ्चमोऽध्यायः ॥

ऋषय ऊचुः ॥ १ ॥

भगवन् ! कृतकृत्याः स्मो ज्ञात्वा सम्यगनुत्तमम् ।
रहस्यमाधिदैवस्य कर्म्मणश्च तथैव हि ॥ २ ॥
सर्गक्रमस्य चेदानीं प्रकारं ज्ञापयन् विभो ।
आत्मनोऽचिन्त्यरूपस्य ज्ञानं किञ्चिन्निरूपय ॥ ३ ॥

सूर्य्य उवाच ॥ ४ ॥

सृष्टिश्चाऽत्र त्रिधा प्रोक्ताऽऽधिभौतिक्याधिदैविकी ।
आध्यात्मिकीति तत्राद्या पिण्डसम्बन्धमश्नुते ॥ ५ ॥
द्वितीयाऽपि च ब्रह्माण्डसम्बधाऽऽध्यात्मिकी तथा ।
विराट् सम्बन्धितां याति तत्राऽऽद्ये सादिसान्तिके ॥ ६ ॥
अन्त्या त्वनाद्यनन्ताऽस्ति संख्यातीताविमौ स्मृतौ ।
ब्रह्माण्डपिण्डौ विस्तारे विराजस्त्ववधिर्न हि ॥ ७ ॥
अहं हि क्षोभको विज्ञाः क्षोभ्यश्च पुरुषोत्तमः ।
सङ्कोचेन विकाशेन प्रधानत्वेऽपि च स्थितः ॥ ८ ॥

महर्षियोंने कहा ॥ १ ॥

हे भगवन् ! अत्युत्तम अधिदैव रहस्य और कर्म रहस्यको भलीभाँति जानकर हम कृतकृत्य हुए हैं । अब हे विभो ! सृष्टिक्रमके प्रकारको कहते हुए अपने अचिन्त्य रूपके ज्ञानका कुछ निरूपण कीजिये ॥२-३॥

श्री सूर्यदेव बोले ॥ ४ ॥

सृष्टि त्रिविध है । यथाः—आधिभौतिकी, आधिदैविकी और आध्यात्मिकी । इनमेंसे पहिली पिण्डसम्बन्धी है, दूसरी (आधिदैविकी) ब्रह्माण्डसम्बन्धी और तीसरी (आध्यात्मिकी) विराट् सम्बन्धी है । आधिदैविकी और आधिभौतिकी सृष्टिके आदि अन्त दोनों हैं, आध्यात्मिकी सृष्टिका आदि अन्त नहीं है, अस्तु पिण्ड और ब्राह्माण्ड दोनों संख्यासे अनन्त हैं एवम् विराट्के विस्तार-से अनन्त होनेसे उसकी अवधि नहीं है ॥५-७॥ हे विज्ञों ! सृष्टिमें मैं पुरुषोत्तमही सङ्कोच और विकाशकेद्वारा क्षोभ्य और क्षोभक हूँ

विकाराणुस्वरूपैश्च ब्रह्मरूपादिभिस्तथा ।
व्यक्तस्वरूपश्च तथा चाऽहं सर्वेश्वरेश्वरः ॥ ९ ॥
गुणसाम्यात् ततस्तस्मात् क्षेत्रज्ञाधिष्ठितात्तथा ।
गुणव्यञ्जनसम्भूतिः सर्गकाले द्विजोत्तमाः ॥ १० ॥
प्रधानतत्त्वमुद्भूतं महान्तं तत् समावृणोत् ।
सात्विको राजसश्चैव तामसश्च त्रिधा महान् ॥ ११ ॥
प्रधानतत्त्वेन समं त्वचा बीजमिवावृतम् ।
वैकारिकस्तैजसश्च भूतादिश्चैव तामसः ॥ १२ ॥
त्रिविधोऽयमहङ्कारो महत्तत्त्वादजायत ।
भूतेन्द्रियाणां हेतुः स त्रिगुणत्वान्महर्षयः ॥ १३ ॥
यथा प्रधानेन महान् महता स तथा वृतः ।
भूतादिस्तु विकुर्वाणः शब्दतन्मात्रिकं ततः ॥ १४ ॥
ससर्ज्ज शब्दतन्मात्रादाकाशं शब्दलक्षणम् ।
शब्दमात्रं तथाकाशं भूतादिः स समावृणोत् ॥ १५ ॥

एवं मैं ही प्रधान रूपसे स्थित हूँ। आकाशादि पञ्च भूत और ब्रह्मादि जीवोंके रूपसे मैं ही व्यक्त स्वरूप हूँ तथा सब ईश्वरोंका भी ईश्वर हूँ। पश्चात् सृष्टिके समय पुरुषद्वारा अधिष्ठित उसी गुणसाम्यसे गुण व्यञ्जन अर्थात् महत्तत्व उत्पन्न हुआ। महत्तत्व त्रिविध है सात्विक राजसिक और तामसिक। बीज जिसप्रकार त्वचाद्वारा आवृत रहता है, उसीप्रकार पूर्व्वोक्त गुणसाम्य (प्रधानत्त्व) ने इस महत्तत्त्वको आवृत किया अर्थात् प्रधानतत्त्व महत्तत्त्वमें व्यापक होकर स्थित हुआ। महत्तत्त्वसे वैकारिक अर्थात् सात्त्विक, तैजस अर्थात् राजस और भूतादि अर्थात् तामस इस त्रिविध अहङ्कार तत्त्वकी उत्पत्ति हुई। हे महर्षियों! अहङ्कार त्रिगुणात्मक है। अतः पञ्चभूत और इन्द्रियोंकी उत्पत्तिका कारण है ॥ ८-१३ ॥
जिसप्रकार प्रधान तत्त्वद्वारा महत्तत्त्व आवृत है, महत्तत्त्वद्वारा अहङ्कार तत्त्व भी उसीप्रकार आवृत है। तामस अहङ्कार तत्त्वने क्षुभित अर्थात् कार्य्योन्मुख होकर शब्दतन्मात्र और शब्द-तन्मात्रसे शब्दगुणविशिष्ट आकाशकी सृष्टिकी एवम् दोनोंको

आकाशस्तु विकुर्व्वाणः स्पर्शमात्रं ससर्ज्ज ह ।
बलवानभवद्वायुस्तस्य स्पर्शो गुणो मतः ॥ १६ ॥
आकाशं शब्दमात्रन्तु स्पर्शमात्रं समावृणोत् ।
ततो वायुर्व्विकुर्व्वाणो रूपमात्रं ससर्ज्ज ह ॥ १७ ॥
ज्योतिरुत्पद्यते वायोस्तद्रूपगुणमुच्यते ।
स्पर्शमात्रन्तु वै वायूरूपमात्रं समावृणोत् ॥ १८ ॥
ज्योतिश्चापि विकुर्व्वाणं रसमात्रं ससर्ज्ज ह ।
सम्भवन्ति ततोऽम्भांसि रसाधाराणि तानि च ॥ १९ ॥
रसमात्राणि चाम्भांसि रूपमात्रं समावृणोत् ।
विकुर्व्वाणानि चाम्भांसि गन्धमात्रं ससर्ज्जिरे ॥ २० ॥
संघातो जायते तस्मात् तस्य गन्धो गुणो मतः ।
तस्मिंस्तस्मिंस्तु तन्मात्रा तेन तन्मात्रता स्मृता ॥ २१ ॥
कर्म्मैव कारणं सृष्टेस्तस्य भेदास्त्रिधा मताः ।
प्राधान्यात्सहजं जैवमैशश्चेति विभागशः ॥ २२ ॥
स्थावरं जङ्गमं तेन धार्य्यते ह्यखिलं जगत् ।
तत्राऽस्ति जैवं पिण्डेषु ब्रह्माण्डे सहजं मतम् ॥ २३ ॥

आवृत कर लिया। आकाशने क्षुभित होकर स्पर्शतन्मात्रकी सृष्टि की। उसकेद्वारा स्पर्शगुणविशिष्ट बलवान् वायु उत्पन्न हुआ और आकाशने वायुको आवृत कर लिया। तदनन्तर वायुके क्षुभित होनेसे रूपमात्र और ज्योति उत्पन्न हुई। ज्योतिका गुण रूप है। ज्योति वायुकेद्वारा आवृत हुई ॥ १४-१८ ॥ ज्योतिके क्षुभित होनेसे रसतन्मात्रा उत्पन्न हुई, उससे रस-गुणविशिष्ट जलका जन्म हुआ। वह ज्योतिकेद्वारा आवृत है। जलने क्षुभित होकर गन्धतन्मात्राकी सृष्टि की। उससे पृथ्वीकी उत्पत्ति हुई। उसका गुण गन्ध है। तत्तद्वस्तु में तन्मात्रा है, इसीसे उन्हें तन्मात्रा कहते हैं ॥ १९-२१ ॥ कर्म्म ही सृष्टिका कारण है। उसके प्रधानतः सहज, जैव और ऐश ये तीन भेद हैं। और उसीने स्थावर जङ्गमात्मक अखिल जगत्को धारण कर रक्खा है। उन त्रिविध कर्मोंमेंसे हे मुनिपुङ्गवों! पिण्डमें जैव, ब्रह्माण्डमें सहज और मेरे अवतारों-

ऐशं ममावतारेष्वित्यूह्यतां मुनिपुङ्गवाः।
किन्तु ये हि मनुष्याणामार्य्यास्तेषां विशेषतः॥ २४॥
निःश्रेयसायाऽभीष्टाय परमाऽभ्युदयाय च।
कर्म्मोपास्तिस्तथा ज्ञानमेतत्कर्म्मत्रयं सदा॥ २५॥
भावत्रयसमाजुष्टं परं हितकरं मतम्।
कर्मोपासनबोधेषु ब्रह्मविष्णुशिवाः क्रमात्॥ २६॥
प्रसिद्धा इति सन्त्यज्य धियं शृणुत मे वचः।
त्रिषु त्रयः प्रसिद्धास्स्युस्तारतम्येन चारुणा॥ २७॥
काम्यकर्मप्रधानोऽस्ति स्वयम्भूश्चतुराननः।
नैमित्तिकप्रधानस्तु विष्णुः कमललोचनः॥ २८॥
नित्यकर्मप्रधानस्स शिवस्साक्षात्त्रिलोचनः।
मूर्त्युपास्तौ विधिर्मुख्यस्त्वंशोपास्तौ हरिर्मतः॥ २९॥
निरंशोपासने मुख्यो नीलकण्ठो हरो मतः।
ज्ञाने श्रवणजे ब्रह्मा विज्ञाने मननोदिते॥ ३०॥
विष्णुस्स सम्यग्ज्ञाने तु निदिध्यासनजे शिवः।
अहमेवेह प्रत्येके ब्रह्माण्डेऽतीतसंख्यके॥ ३१॥

में ऐश कर्म्म विद्यमान है, ऐसा जानो। किन्तु मनुष्योंमें जो आर्य्य हैं, विशेषतः उनके अभीष्ट निःश्रेयस और परम अभ्युदयकेलिये भावत्रय युक्त कर्म्म, उपासना और ज्ञानरूपी तीनों कर्म्म सदा परम हितकर हैं। कर्म, उपासना और ज्ञानमें क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और शिव प्रसिद्ध हैं—इस विचारको छोड़कर मैं जो कहता हूँ, उसे सुनो। उत्कृष्ट तारतम्यसे तीनोंमें तीन प्रसिद्ध हैं। काम्य कर्ममें चतुर्मुख ब्रह्मा प्रधान हैं। नैमित्तिक कर्मोंमें कमललोचन विष्णुप्रधान हैं और नित्यकर्ममें साक्षात् त्र्यम्बक शिवजी प्रधान हैं। मूर्तिकी उपासनामें ब्रह्मा, अंशकी (अवतारों की) उपासनामें विष्णु और निरंश (ब्रह्म) उपासनामें नीलकण्ठ शिवजी मुख्य हैं। श्रवण सम्बन्धी ज्ञानमें ब्रह्मा, मनन सम्बन्धी ज्ञानमें विष्णु और निदिध्यासन सम्बन्धी सम्यक् ज्ञानमें शिवजी प्रधान हैं। मैं ही अनन्त ब्रह्माण्डों

ब्रह्मविष्णुमहेशानां स्वरूपेण स्वमायया।
सर्गस्थितिलयान्कुर्व्वे तत्र तत्र विभागशः॥ ३२॥
ब्रह्मविष्णुशिवा मत्तो जायन्ते तेऽमिता इह।
अहमेवाष्टवसव आदित्या द्वादश स्मृताः॥ ३३॥
रुद्रा एकादश ख्याता मघवा च प्रजापतिः।
इमे देवास्त्रयस्त्रिंशत्प्रख्याता शास्त्रविस्तरे॥ ३४॥
अहमेवर्षयो देवा पितरश्च तथा स्मृताः।
एभीरूपैश्च बहुभिर्ब्रह्माण्डानि च पालये॥ ३५॥
ममैवोपासना विप्राः! सकलानामुपासना।
ममैवाराधने सर्व्वे देवा आयान्ति तुष्टताम्॥ ३६॥
यथा नद्योऽमितास्तास्तास्समुद्रं यान्ति वै तथा।
सर्व्वदेवनमस्कारो मामेवैति न संशयः॥ ३७॥
अचिन्तनीयमव्यक्तमवाङ्मनसगोचरम्।
तत्त्वातीतं निर्विकारं चिन्मयं सृष्टितः परम्॥ ३८॥
श्रद्धां विना ममेदं हि रूपं नैवानुभूयते।
श्रद्धा च सात्त्विकी विप्रा जायते भावशुद्धितः॥ ३९॥

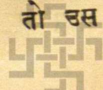
मेंसे प्रत्येक ब्रह्माण्डमें अपनी मायासे ब्रह्मा विष्णु और शिवके रूपसे विभागशः सृष्टि, स्थिति और लयकी क्रिया किया करता हूँ॥ २२-३२॥ अनन्त ब्रह्मा, विष्णु और शिव मुझसे उत्पन्न होते हैं। आठ वसु, बारह आदित्य, एकादश रुद्र, इन्द्र, प्रजापति, इसप्रकारसे शास्त्रोंमें कहे हुए तैंतीस देवता, एवं ऋषि, देवता, पितृगण सब मैं ही हूँ। मैं ही इन रूपोंमें ब्रह्माण्डोंका पालन किया करता हूँ। हे विप्रो! मेरी ही उपासना सबकी उपासना है। मेरी ही आराधना करनेसे सब देवता सन्तुष्ट होते हैं। जिसप्रकार सब नदियाँ समुद्रमें जा मिलती हैं, उसीप्रकार सब देवताओंको किया हुआ नमस्कार निःसन्देह मेरे पास पहुँचता है॥ ३३-३७॥ अचिन्तनीय, अव्यक्त, वाणी और मनसे अगोचर, तत्त्वातीत, निर्विकार, चिन्मय और सृष्टिसे परे इसप्रकारका जो मेरा रूप है, उसका अनुभव विना श्रद्धाके नहीं हो सकता। हे

चित्तैकाग्र्यं भावशुद्ध्या तस्माज्ज्ञानं विकासते ।
ततो ह्युत्पद्यते श्रद्धा सात्त्विकी ज्ञानमूलिका ॥ ४० ॥
अतो विद्वद्भिराख्याता भावशुद्धेः प्रधानता ।
यथा यथा साधकस्य चित्तं श्रद्धोपगूहति ॥ ४१ ॥
तथा तथा भावशुद्धिः सन्निधत्तेऽस्य चेतसि ।
श्रद्धया भावनिष्पत्तिर्भावश्चोन्नतिसाधकः ॥ ४२ ॥
फलसिद्धिर्नृणां शुद्धभावमूला निगद्यते ।
भावशुद्धिं विना जुष्टधर्माङ्गेष्वेकमप्यलम् ॥ ४३ ॥
न प्रसूते फलं दिव्यं पुंसामित्येष निश्चयः ।
धर्माङ्गेषु च सर्वत्र भावशुद्धिरपेक्षिता ॥ ४४ ॥
ततश्चैतद्विचारोऽयं स्पष्टं प्रस्तूयते मनाक् ।
यदि कोऽपि नरो दानधर्मसाधनतत्परः ॥ ४५ ॥
फलप्रत्युपकाराप्ति भावमालिन्यदूषितः ।
अपि दद्यात्स्वर्णकोटिं ततोऽप्यधिकमेव वा ॥ ४६ ॥

विप्रो ! भावशुद्धिसे सात्त्विकी श्रद्धा उत्पन्न होती है। भावशुद्धिसे पहिले चित्तकी एकाग्रता होती है और उसीसे ज्ञानका प्रकाश होता है। फिर जिसके मूलमें ज्ञान है, वह सात्त्विकी श्रद्धा उत्पन्न होती है। इसीसे विद्वानोंने भावशुद्धिकी प्रधानताका वर्णन किया है। जैसे जैसे साधकके चित्तको श्रद्धा आश्रय करेगी, वैसे वैसे उसके चित्तमें भावशुद्धिकी मात्रा बढ़ेगी। श्रद्धासे भावकी पूर्णता होती है और भाव हीउन्नतिविधायक है। मनुष्योंको फल सिद्धि शुद्धभावद्वारा प्राप्त होती है । भावशुद्धिके विना आचरित कर्मका एक भी अङ्ग मनुष्योंको महत् फलदायक नहीं होगा, इसमें सन्देह नहीं है। सभी धर्माङ्गोंकी साधनामें भावशुद्धिकी अपेक्षा रहती है। यहाँपर इस सम्बन्धमें स्पष्ट विचार किया जाता है। यदि कोई दान धर्मके साधनमें तत्पर पुरुष फल अथवा प्रत्युपकारकी प्राप्ति रूप भावमालिन्यसे दूषित होकर करोड़ों या इससे अधिक मोहरें दान करे ॥ ३८-४६ ॥ तो उसे इहलोकमें सुख

किन्त्वैहिकसुखात्स्वर्गाद्वाऽन्यन्नो लभते फलम्।
अथैका ताम्रमुद्रापि सुगुप्तं शुद्धभावतः ॥ ४७ ॥
दीयते चेत्सापि दातुः साक्षान्मोक्षाय कल्पते।
एवं तपोऽपि यद्यत्र दम्भार्थं यशसेऽथवा ॥ ४८ ॥
निषेव्यते तदा नेयात् तद्दिव्यफलहेतुताम्।
तपस्तदेव तत्सम्वेदात्मोन्नतिधिया नरैः ॥ ४९ ॥
निर्मायं शुद्धभावेन तत्तु मुक्त्यै प्रजायते।
एवमेव सदाचारविषयेऽपि विचिन्त्यताम् ॥ ५० ॥
यथा कोऽपि यशस्कामः शीलं व्यञ्जयितुं निजम्।
छद्मना विनयी भूत्वा प्रणमेद्बहुशस्तदा ॥ ५१ ॥
तत्सर्वं राजसोद्देश्यसंसिद्ध्या एव केवलम्।
किन्तु सत्त्वाश्रितः कोऽपि पूज्यत्वेन सतो नमेत् ॥ ५२ ॥
स तदाऽऽध्यात्मिकीं विन्देदुन्नतिं सत्यशीलवान्।
इत्थमेव च यः कश्चित्कर्मसाधनतत्परः ॥ ५३ ॥
सात्त्विकाञ्जपयागादीन् दुष्टभावनयाऽऽचरेत्।
एतेभ्यः सात्त्विकेभ्योऽपि नीचभावाश्रयादसौ ॥ ५४ ॥

अथवा स्वर्गप्राप्तिके अतिरिक्त कोई फल नहीं होगा। और यदि भावशुद्धि पूर्वक एक ही पैसा गुप्तरूपसे दान किया जाय, तो वह पैसा दाताको साक्षात् अर्थात् एकदम मोक्ष प्राप्त करा सकता है। ऐसे ही यदि दम्भ दिखाने अथवा यश फैलानेकी इच्छासे कोई तप करे, तो उसका तपका दिव्य फल कभी प्राप्त नहीं होगा। वही तप यदि मनुष्य आत्मोन्नति होनेकी बुद्धिसे कपट रहित होकर शुद्धभावसे करे, तो वह मुक्तिका कारण होता है। इसीतरह सदाचारके विषयमें भी सोचना चाहिये। मानलो, कोई यशकी इच्छा रखनेवाला मनुष्य अपना शील दिखानेकेलिये कपटसे नम्र होकर बहुत प्रणाम किया करे, तो वह केवल राजसिक उद्देश्यकी सिद्धि प्राप्त कर सकेगा। किन्तु जो सच्चा शीलवान् होगा, वह सत्त्वगुणके अश्रयसे सज्जनों-को पूज्य मानकर प्रणाम करेगा और उससे आध्यात्मिक उन्नति प्राप्त करेगा। इसप्रकार कोई कर्म-साधनमें तत्पर मनुष्य यदि सात्त्विक जप, यागआदि कर्मोंको दुष्टभावनासे करे, तो उस



केवलां राजसीमेव सिद्धिं समधिगच्छति।
येन चेत्पूतभावेनाऽऽध्यात्मिकोन्नतिमीप्सुना ॥ ५५ ॥
विहितः पशुयागोऽपि नूनं स्यात्तस्य मुक्तये।
भक्त्युपासनयोर्यानि साधनानीह तान्यपि ॥ ५६ ॥
यथार्थफलदानि स्युर्भावशुद्ध्यैव केवलम्।
यश्च निष्कामभावेन देवपित्राद्युपासनाम् ॥ ५७ ॥
कुर्यात्तदा ततोऽप्यस्य मुक्तिरेवोपपद्यते।
सकामश्चेच्चरेद्ब्रह्मोपासनामपि मानवः ॥ ५८ ॥
भावमालिन्यतः सापि स्वर्गमात्रप्रदायिनी।
ज्ञानकाण्डगता येयं शास्त्रशिक्षाप्रणालिका ॥ ५९ ॥
तत्राप्येतत् तत्त्वमुक्तं मुनिवर्या विबुध्यताम्।
स्थूलदृष्ट्या विवादाय ये वै शास्त्राण्यधीयते ॥ ६० ॥
तेषां शाब्दं ज्ञानमेतद्भार एव निरर्थकम्।
यः सद्वादाय शास्त्रार्थाभ्यासी जिज्ञासुभावतः ॥ ६१ ॥
सोऽवश्यं प्राप्तविज्ञानः स्वात्मभावं प्रपद्यते।
योगसाधनमध्ये तु भाव एव विशिष्यते ॥ ६२ ॥

नीचभावनाके आश्रयसे वे सात्त्विक कर्म भी केवल राजसिक सिद्धिके देनेवाले बन जायँगे। आध्यात्मिकी उन्नति चाहनेवाला मनुष्य पवित्रभावसे यदि पशुयाग भी करे, तो वह उसकी मुक्तिका कारण होगा। भक्ति और उपासनाके जितने साधन हैं, वे सब केवल भावशुद्धिसे ही यथार्थ फल प्रदान करते हैं। जो निष्कामभावसे देवता पितरआदिकी उपासना करता है, उसकी उसीसे मुक्ति अवश्य ही होती है। सकाम होकर मनुष्य यदि ब्रह्मोपासना भी करे, तो भावमालिन्यकेकारण वह केवल स्वर्ग देनेवाली होगी। हे मुनिगण! ज्ञानकाण्डके अन्तर्गत जो शास्त्रशिक्षा की प्रणाली है, उसमें भी यही तत्त्व कहा गया है, सो आप जान लें। विवादकेलिये ही स्थूल दृष्टिसे जो शास्त्र पढ़ते हैं, उनका शब्दपांडित्य केवल भारभूत और व्यर्थ है। जो उत्तम वादकेलिये जिज्ञासुबुद्धिसे शास्त्रार्थोंका अभ्यास करता है, वह अवश्य ही विज्ञान प्राप्त कर आत्मभावमें पहुँच जाता है। योगसाधनोंमें तो भाव ही

योगसिद्धिरलभ्यैव भावालम्बनमन्तरा ।
आध्यात्मिक्युन्नतिप्राप्तावुपाया ये प्रकीर्तिताः ॥ ६३ ॥
तेष्वप्ययं भाव एव मतः प्राधान्यतो बुधाः ।
समाधिविषयेऽप्यस्याऽवश्यम्भावो ह्यपेक्षितः ॥ ६४ ॥
सविकल्पो निर्विकल्पः समाधिर्यो द्विधा मत ।
तत्र पूर्वमतिक्रम्य सविकल्पं हि साधकः ॥ ६५ ॥
निर्विकल्पसमाधौ च प्रविविक्षुर्यदा भवेत् ।
तदा सात्त्विकभावस्य साहाय्येनैव तत्र सः ॥ ६६ ॥
साफल्यं लभते नूनं न तु भावाश्रयं विना ।
उक्तश्च प्राक् श्रद्धयैव भाव उन्नतिमश्नुते ॥ ६७ ॥
तयैव चास्य संशुद्धिर्वृद्धयोदेत्यसंशयम् ।
यदा च पूर्णरूपेण भावशुद्धिः प्रजायते ॥ ६८ ॥
तदा नृणां परा भक्तिः स्वत एव सुसिद्ध्यति ।
श्रद्धेयं सुतरां प्रत्याहारभूम्युपयोगिनी ॥ ६९ ॥

प्रधान है ॥ ४६-६२ ॥ भावका अवलम्बन किये विना योगसिद्धि अप्राप्य है । हे विज्ञों ! आध्यात्मिक उन्नतिके जो उपाय कहे गये हैं, उनमें भी भावकी ही प्रधानता रक्खी गयी है । समाधिके विषयमें तो भावकी अधिक आवश्यकता रहती है । समाधि सविकल्प और निर्विकल्प दोप्रकार की कही गयी है । उसमेंसे पहिली सविकल्प समाधिको अतिक्रमण करके जो साधक निर्विकल्प समाधिमें प्रवेश करना चाहता है, वह सात्त्विक भावकी सहायतासे ही सफलता प्राप्त कर सकता है । भावका आश्रय लिये विना सफलता नहीं प्राप्त कर सकता । पहिले कहा गया है कि, श्रद्धासे ही भावकी उन्नति होती है, उसी श्रद्धाकी वृद्धिसे भावशुद्धि होती है, इसमें सन्देह नहीं है । जब पूर्णरूपसे भावशुद्धि हो जाती है, तब मनुष्यों-को पराभक्ति स्वयं प्राप्त होती है । यह श्रद्धा प्रत्याहार भूमिमें और भाव धारण भूमिमें उपकारक है । इसीतरह ध्यान भूमिमें भक्ति

भावश्च धारणाभूमावुपकारकताङ्गतः ।
एवमेव ध्यानभूमौ भक्तिः समवलम्ब्यते ॥ ७० ॥
तस्माच्छ्रद्धैव सर्वेषां मूलमादौ न संशयः ।
एतदुक्तं मया भावतत्त्वं संजुषते तु यः ॥ ७१ ॥
सन्तो विशुद्धभावोऽसौ परं श्रेयोऽधिगच्छति ।
अतो वै योगिनो यस्य भावशुद्धिरजायत ॥ ७२ ॥
अन्तःकरणमध्येऽथ शास्त्रे श्रद्धा तथा गुरौ ।
ईदृशो गुरुभक्तस्य श्रद्धालोस्तत्त्वदर्शिनः ॥ ७३ ॥
भावशुद्ध्या पवित्रान्तः करणस्य च योगिनः ।
चिन्मयं रूपमव्यक्तं व्यक्तं मे भवति ध्रुवम् ॥ ७४ ॥
ईक्षते स तदानीं मां जङ्गमस्थावरात्मके ।
स्थूलसूक्ष्मोभये सर्गे सूत्रे मणिगणं यथा ॥ ७५ ॥
उपले मूर्त्तिवत् सर्व्वं मय्येवेदं स्थितं जगत् ।
विभुराकाशवच्चाऽस्मि तद्द्रष्टा च ततः पृथक् ॥ ७६ ॥
अस्म्येवाहमिदं सर्व्वं सर्व्वस्मादप्यहं पृथक् ।
निमित्तं जगतश्चाऽस्मि तथोपादानमेव च ॥ ७७ ॥

का अवलम्बन किया जाता है ॥ ६३-७० ॥ अतः श्रद्धा ही सबका मूल है, यह निःसन्देह है। हे सत्पुरुषों! वह जो मैंने भावतत्त्व कहा है, इसके आचरणसे साधकको भावशुद्धि होकर वह परम कल्याणको प्राप्त करता है। सारांश यह कि, जिस योगीकी भावशुद्धि हो जाय और जिसके अन्तःकरणमें शास्त्र तथा गुरुकेप्रति श्रद्धा हो, उस गुरुभक्त, श्रद्धालु, तत्त्वदर्शी योगीको जिसका कि अन्तःकरण भावशुद्धिसे पवित्र हो गया है, मेरा अव्यक्त चिन्मय स्वरूप शीघ्र व्यक्त हो जाता है। तब वह इस स्थावर जङ्गमात्मक और स्थूल सूक्ष्मात्मक उभयप्रकारकी सृष्टिमें मुझे सूत्रमें पिरोये हुए मणियोंकी तरह देखता है। पत्थरपर खुदी हुई मूर्तिकीतरह मुझमें यह सब जगत् स्थित है। मैं विभु और आकाशके समान उनका द्रष्टा होकर उनसे पृथक् हूँ ॥ ७१-७६ ॥ मैं ही यह सब कुछ हूँ और सबसे पृथक् भी हूँ। जगत्का निमित्त कारण मैं हूँ और उसका उपादान कारण

मत्सत्तया जगत्सत्ता किन्तु व्यक्तस्थितौ जगत्।
मय्येव विन्दते स्वीयां स्थितिमेतद्विनिश्चितम्॥ ७८॥
अव्यक्तावस्थितौ याति जगत्सत्तालयं मयि।
जीवदेहेऽस्मि कूटस्थोऽनन्तब्रह्माण्डदर्शकः॥ ७९॥
ईश्वरोऽहं तथा लोके प्रथितः शास्त्रविस्तरे।
ममैकस्मिन् स्थिता क्षुद्रेऽनन्तब्रह्माण्डरूपिणी॥ ८०॥
सृष्टिरंशेऽहमेवाऽस्मि सच्चिदानन्दरूपवान्॥ ८१॥

इति श्रीसूर्य्यगीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे सूर्य्यर्षिसम्वादे सृष्टिप्रकरणात्मस्वरूप-वर्णनं नाम पञ्चमोध्यायः।



भी हूँ। मेरी सत्तासे जगत्की सत्ता है किन्तु जगत् व्यक्तावस्थामें मुझमें ही अपने अस्तित्वको प्राप्त करता है और यह निश्चय है कि, अव्यक्त अवस्थामें मुझमें जगत्की सत्ता लयको प्राप्त हो जाती है। जीवोंके शरीरोंमें मैं कूटस्थ और अनन्त ब्रह्माण्डोंको देखनेवाला ईश्वर हूँ—यह बात शास्त्रोंमें तथा लोकमें सर्वत्र प्रसिद्ध है। मेरे एक छोटेसे अंशमें अनन्त ब्रह्माण्डरूपिणी सृष्टि स्थित है और मैं ही सच्चिदानन्दस्वरूप हूँ॥ ७७-८१॥

इसप्रकार श्रीसूर्य्यगीतोपनिषद्के ब्रह्मविद्यासम्बन्धी सूर्य्यर्षि-सम्वादात्मक योगशास्त्रका सृष्टिक्रम और आत्मस्वरूप वर्णन नामक पञ्चम अध्याय समाप्त।





॥ अथ षष्ठोऽध्यायः ॥

ऋषय ऊचुः ॥ १ ॥

भवतश्चिन्मयं रूपं तत्त्वातीतञ्च यत् प्रभो ! ।
इदानीमपि नोऽस्माभिर्बुध्यते खलु तत्त्वतः ॥ २ ॥
भगवन् ! कृपयाऽस्मान् स्वं विराड्रूपं प्रदर्शय ।
जगद्गुरो ! गीयसे त्वं सर्व्वशक्तिसमन्वितः ॥ ३ ॥

सूर्य्य उवाच ॥ ४ ॥

भवतां श्रद्धया विप्रा ऐकाग्र्येण च तोषितः ।
जिज्ञासया च दिव्यं वश्चक्षुः सम्प्रददेऽधुना ॥ ५ ॥
यूयं तेनाऽशु मे स्थूलं विराड्रूपं प्रपश्यत ॥ ६ ॥

ऋषय ऊचुः ॥ ७ ॥

देवादिदेव ! प्रथितप्रभाव ! दृष्ट्वा महाकाश इह प्रसन्ने ।
अनाद्यनन्ते सुविराट्शरीरमनाद्यनन्तं तव विस्मिताः स्मः ॥८॥
तव प्रसादात् खलु दिव्यदृष्टिसमृद्धिमन्तोऽपि वयं भवामः ।
अपूर्व्वदेहस्य तवैकमङ्गमपीक्षितुं पूर्णमहो क्षमा न ॥ ९ ॥

महर्षिगण बोले ॥ १ ॥

हे प्रभो ! आपका तत्त्वातीत चिन्मय रूप हमें अब भी भली भाँति नहीं समझमें आता। इसलिये हे भगवान् ! कृपा करके आप हमें अपना विराट् रूप दिखाइये। हे जगद्गुरो ! आप सर्व शक्तिमान् हैं ॥ २-३ ॥

श्रीसूर्य्यदेव ने कहा ॥ ४ ॥

हे द्विजगण ! आपकी एकाग्रता और श्रद्धासे मैं प्रसन्न हूँ। आपकी जिज्ञासासे मैं अब दिव्यचक्षु प्रदान करता हूँ, जिससे आप मेरे विराट् स्थूल शरीरको देखें ॥ ५-६ ॥

ऋषिगण बोले ॥ ७ ॥

हे प्रसिद्धप्रभाव ! देवादिदेव ! इस अनादि अनन्त निर्मल महाकाशमें आपका अनादि अनन्त विराट् शरीर देखकर हम विस्मित हो गये हैं ॥ ८ ॥ आपके प्रसादसे दिव्य दृष्टि रूप समृद्धिको प्राप्त हुए हैं, तो भी आपके अपूर्व देहके पूरे एक अङ्गको भी देखनेमें

भवच्छरीरप्रतिरोमकूपमहो महासूर्य्यगणः समन्तात्।
अस्माकमेतानि समुज्ज्वलानि स्तम्भान्ति दिव्यान्यपि दर्शनानि॥१०॥

तवाङ्घ्रिमाश्रित्य यथाधिकारं ब्रह्माण एते हरयो हराश्च।
सृजन्ति रक्षन्ति च संहरन्ति ब्रह्माण्डसंघानिति दृश्यतेऽत्र॥११॥

ऊर्द्ध्वेऽप्यधोऽपीश्वर! नाभितस्ते लोकानसंख्यान् ननु सप्त सप्त।
निरीक्ष्य चित्रं स्मृतिशक्तिहीनाःसंस्तम्भिताःकेऽपि वयं भवामः॥१२॥

विराट्स्वरूपा दश बाहवस्ते दिशो दश व्याप्य विराजमानाः।
तिष्ठन्ति सम्यक् सुविचित्रमेषां नादिं निरीक्षामह एवमन्तम्॥१३॥

एषां कराणां समनन्तभावात् व्याप्तं महाकाशमपि ह्यनन्तम्।
एतत्पुनश्चिन्तयतां मनो नो मोहाम्बुधौ साधु निमज्जतीव॥१४॥

आनन्ददस्याऽपि तवाननस्य विचित्रकार्य्यं विवरस्य वीक्ष्य।
अहो वयं विस्मयलुप्तधैर्य्याःस्मः कीदृशास्तन्नहि वक्तुमीशाः॥१५॥

हम समर्थ नहीं हैं॥ ९॥ आपके शरीरके प्रत्येक रोमकूपमें चारों ओर अनेक महासूर्य विद्यमान हैं, जिनसे हमारी उज्ज्वल और दिव्य दृष्टि भी चकाचौंधको प्राप्त हुई है॥ १०॥ यहाँपर देखा जाता है कि, आपके चरणका आश्रय कर अनेक ब्रह्मा विष्णु महेश अनेक ब्रह्माण्डोंकी सृष्टि स्थिति और लय करते हैं॥ ११॥ हे ईश्वर! आपकी नाभिसे ऊपर भूःभुवःस्वःआदि असंख्य सप्त ऊर्द्ध्वलोक और नाभिसे नीचे रसातल पातालादि अगणित सप्त अधोलोक देखकर स्मृतिशक्तिसे हीन हो हम जड़वत् हो गये हैं॥ १२॥ आपके परमविशाल दश हाथ दशों दिशाओंमें व्याप्त हो रहे हैं। उनमें यह विचित्रिता है कि, हमें न उनका आदि देख पड़ता है और न अन्त ही दिखाई देता है॥ १३॥ उन हाथोंके अनन्त होनेसे अनन्त महाकाश भी उनके-द्वारा व्याप्त हो रहा है—इसका विचार कर हमारा मन मुग्धतारूप समुद्रमें डूब जाता है॥ १४॥ आनन्द देनेवाले आपके मुखके विवरका विचित्र कार्य देखकर हम विस्मित हो ऐसे धैर्यहीन हो गये हैं कि हमें अपनी दशा कुछ कहते नहीं बन आती॥ १५॥ असंख्य देवता, दिग्पाल, सूर्य, चन्द्र, ब्रह्मा, ग्रह, उपग्रह, तारागणआदि

अतीतसंख्या विबुधा दिगीशाः सूर्य्याः शशांकाः कमलासनाश्च।
अहो ग्रहोपग्रहतारकाद्याः सर्व्वेऽत्र तिष्ठन्ति विचित्रदृश्याः ॥१६॥
सिद्धाः सुरा यक्षमहोरगाद्या मर्त्या अमर्त्या भुवनं समन्तात्।
चराचरं हे जगदादिदेव! दृश्यन्त एवाऽत्र विचित्रमेतत् ॥१७॥
ब्रह्माण्डसंघानमितानसंख्यान् निर्गच्छतोऽस्मात् खलु काँश्चनाशु।
प्रतिक्षणं काँश्चन गच्छतोऽत्र दृष्ट्वा वयं विस्मयमाश्रिताः स्मः ॥१८॥
एवं विधं किञ्चन नैव विद्मो यदत्र नो सत् सविकाशमस्ति।
सुसंयमेनाऽपि कथञ्चनाऽपि न ज्ञातुमीशा वयमस्य तत्त्वम् ॥१९॥
अहो महाकालविभोरनन्तरूपं महोग्रोग्रमखण्डनीयम्।
कथञ्चिदेषां परिपश्यतां नो बुद्धिर्हता व्याकुलतां प्रयाति ॥२०॥
प्रभो! तव श्रीमुखमण्डनस्य शोभां परानन्दमयञ्च तेजः।
संपश्यतां नः परमाऽभिमानः स्वरूपशून्योऽस्तमितः परात्मन्! ।२१॥
तव प्रसादान्नवदिव्यदृष्टिं प्राप्याऽपि विश्वेश्वर! विश्वरूपम्।
अनाद्यनन्तं किमिवाऽद्य वीक्ष्य भीता वयं मूर्च्छितवद्भवामः ॥२२॥

विचित्र रूपसे इसमें विराजमान हैं ॥ १६ ॥ हे देवादिदेव! सिद्ध, सुर, यक्ष, महोरग, मनुष्य, देव और समस्त भुवनआदि चराचर इसमें देख पड़ते हैं—यह एक विचित्र बात है ॥ १७ ॥ जिनकी गिनती नहीं हो सकती ऐसे अनन्त ब्रह्माण्डसमष्टि इसमेंसे हर एक क्षणमें बड़ी शीघ्रतासे बाहर निकलते और बाहरसे इसमें घुस जाते हैं, वह देख-देख हमें बड़ा विस्मय होता है ॥ १८ ॥ ऐसी कोई वस्तु नहीं देखते, जो सत् और प्रकाशमय न हो, विशेष ध्यान देनेपर भी किसीप्रकार इसका तत्त्व जाननेमें हम समर्थ नहीं हो सकते ॥ १९ ॥ अहो, महाकाल प्रभुके अखण्डनीय और उग्रतरसे भी उग्र अनन्त रूपको देखकर एकाएक हमारी बुद्धि लोप हो गयी और हम व्याकुल हो रहे हैं ॥ २० ॥ हे परमात्मन्! हम लोगोंमें जो अभिमान था, सो हे प्रभो! आपके सुन्दर मुखकी शोभा और परमानन्दमय तेजको देखकर मूलसहित जाता रहा। ॥ २१ ॥ हे विश्वेश्वर! आपके प्रसादसे नवीन दिव्य दृष्टिको प्राप्त करनेपर भी आपका अनाद्यनन्त विश्वरूप देखकर हम भयभीत और मूर्च्छितकी तरह हो रहे हैं ॥ २२ ॥ हमारी दृष्टि जड़वत् हो गयी

अस्माकमास्ते जड़ितैव दृष्टिः लुप्तैव शान्तिः प्रहतैव बुद्धिः ।
कर्त्तव्यमूढ़ा वयमाभवामो गुरुं भवन्तं शरणं प्रपन्नाः ॥२३॥
रूपं प्रभो ! संहर संहरैतन्मनोहरं दर्शय दर्शयाऽन्यम् ।
पूर्णां धृतिं स्याम यथाऽधिगन्तुमीशास्तथा त्वं दयया विधेहि ॥२४॥
अनन्तवैचित्र्यमयं प्रदीप्तं विराट्स्वरूपं तव भीतिदं यत् ।
तस्माद्वयं चित्तसदेकतत्त्वभावं सुपातुं न तु पारयामः ॥२५॥
तत्सच्चिदानन्दमयाऽद्वितीयमतीतवाङ्मानसवर्त्मरूपम् ।
दृष्ट्वा वयं स्याम यथा कृतार्थास्तथा विदध्या भुवनेश्वर ! त्वम् ॥२६॥
कृपामय ! त्वां शरणागवत्सलमचिन्त्यरूपं शरणागता वयम् ।
वपुर्मनोवाग्भिरलं समन्ततः सहस्रशः संप्रणमाम आकुलाः ॥२७॥

व्यास उवाच ॥ २८ ॥

एवं प्रार्थयमानेषु महर्षिषु विहाय सः ।
सूर्य्यो देवो विराड्रूपं रूपं लीलामयं दधौ ॥ २९ ॥

है। शान्ति जाती रही, बुद्धि मारी गयी और हमने कर्तव्यमूढ़ होकर हे गुरो ! आपकी शरण ली है ॥ २३ ॥ हे प्रभो ! आप अपने इस रूपको शीघ्र दूरकर मनोहर अन्यरूप शीघ्र प्रकट कीजिये और जिससे हम पूर्ण धैर्यको धारण करनेमें समर्थ हों, ऐसा उपाय कृपा करके करिये ॥ २४ ॥ अनन्त विचित्रताओंसे युक्त आपका प्रकाशमान भयंकर विराट् स्वरूप देखकर हम अपने चित्तके उत्कृष्ट एकतत्त्वभावको नहीं रख सकते ॥ २५ ॥ हे त्रिभुवननाथ ! आप अपना ऐसा सच्चिदानन्दमय, अद्वितीय, वाणी और मनकी गतिसे अतीत स्वरूप प्रकट करिये, जिसे देखकर हम कृतार्थ हों ॥ २६ ॥ हे करुणामय ! शरणागतवत्सल ! अचिन्त्यरूप ! आपके हम शरणागत हैं और व्याकुल होकर काया, वाणी तथा मनसे हजारों प्रणाम करते हैं ॥ २७ ॥

व्यासजी बोले ॥ २ ॥

इस प्रकार महर्षियोंके प्रार्थना करनेपर श्रीसूर्य्यदेवने विराट् रूपको संवरण करके लीलामयरूप धारण किया ॥ २९ ॥ उस समय तेजोमय भक्तवत्सल श्रीभगवान् सूर्य्यदेव सहसा गले हुए सोनेके

तेजोमयस्तदानीं स भगवान् भक्तवत्सलः।
आविर्बभूव सहसा विगलत्काञ्चनप्रभः॥ ३० ॥
चतुर्षु तस्य हस्तेषु शोभमानेषु सर्व्वथा।
शङ्खश्चक्रश्च कमलं शक्तिश्च रेजिरेतमाम्॥ ३१ ॥
सप्तभिर्वाजिभिः सप्तरूपैराकृष्टमुज्ज्वलम्।
एकचक्रं रथं दिव्यमारूढ़ोऽरुणसारथिम्॥ ३२ ॥
प्रसन्नवदनः शान्तः स्मितशोभितदिङ्मुखः।
तेजो ज्योतिश्च सर्व्वेभ्यस्तदानीं प्रददौ भृशम्॥ ३३ ॥
एवमाविर्भवन्तं तं भगवन्तं महर्षयः।
विलोक्य बद्धाञ्जलयः प्रणतास्तुष्टुवुर्मुदा॥ ३४ ॥

महर्षय ऊचुः॥ ३५ ॥

देवादिदेव! स्तोतव्य! ज्योतिर्ज्योतिस्त्वमद्भुतम्।
संजीवयस्यनन्ते हि ब्रह्माण्डे ज्योतिषाऽखिलम्॥ ३६ ॥
सूर्य्यः स्वतन्त्रः प्रत्येकब्रह्माण्डे स्वस्वमण्डलात्।
त्वज्ज्योतिराप्तोऽनायासं ज्योतिःस्रोतः किरत्यलम्॥ ३७ ॥

समान कान्तिवाले होकर आविर्भूत हुए॥ ३०॥ उनके शोभायमान चारों हाथोंमें शङ्ख चक्र पद्म और शक्ति अच्छी तरहसे सुशोभित थीं॥ ३१॥ सात रंगके सात अश्वोंसे आकृष्ट उज्ज्वल औ दिव्य एक चक्रवाले रथपर आरूढ़, अरुणसारथि, प्रसन्नमुख, शान्त, मन्दहास्यसे सुशोभित हैं दशों दिशारूप मुख जिनके, ऐसे सूर्य्यदेवने उस समय सकल लोकोंको तेज और ज्योति प्रदान की॥ ३२-३३॥ इसप्रकार आविर्भूत श्रीभगवान् सूर्य्यदेवके दर्शन करके महर्षिलोग हाथ जोड़कर नम्रतापूर्वक प्रसन्नचित्तसे स्तुति करने लगे॥ ३४॥

महर्षिलोग बोले॥ ३५॥

हे स्तुति करने योग्य देवादिदेव! आप ज्योतियोंके भी ज्योति हैं और उस ज्योतिसे ही अनन्त ब्रह्माण्डस्थित सकल पदार्थोंको आप सजीव करते हैं, यह अद्भुतता है॥ ३६॥ आपकी ज्योतिको प्राप्त करके प्रत्येक ब्रह्माण्डके पृथक् पृथक् सूर्य्य अपने अपने मण्डल

यत्तेज इह संसारे यच्च ज्योतिस्त्वमेव तत्।
तेजोज्योतिःप्राणतोऽदो विश्वं धत्से त्वमेव हि ॥३८॥
अनन्तकोटिब्रह्माण्डपिण्डसङ्घाः पृथक् पृथक्।
त्वय्येव प्रोथिताः सन्ति सूत्रे मणिगणा इव ॥३९॥
आदिर्गुरूणां सर्व्वेषां त्वमेवाऽसि जगद्गुरुः।
ऋषिभिः स्रावयस्येतज्ज्ञानस्रोतस्त्वमेव हि ॥४०॥
समर्प्य शक्तीर्देवेषु कृत्वा कर्म्मव्यवस्थितिम्।
सृष्टिस्थितिलयानां त्वं सामञ्जस्यं करोष्यलम् ॥४१॥
त्वमेव पितृरूपेण मानवानां क्रमोन्नतिम्।
विदधासि जगद्वन्द्य! कृपयाद्भुतया तया ॥४२॥
परमात्मन्! त्वमेतेभ्यो जीवेभ्यो निजतेजसा।
आकृष्य क्रमशो मुक्तिं ददासि सविताऽसि तत् ॥४३॥
त्वं विश्ववन्द्य! क्रमशश्चित्सत्ताया विवर्द्धनैः।
जीवान् नयसि कैवल्यं तद्विष्णुरसि विश्वप! ॥४४॥

से अनायास ज्योतिःस्रोत प्रवाहित करते हैं ॥ ३७ ॥ इस संसारमें जो तेज और ज्योति है, वह आपही हैं और इस विश्वको अपने तेज ज्योति और प्राणद्वारा आपने ही धारण कर रक्खा है ॥ ३८ ॥ अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड और पिण्डोंके समूह पृथक् पृथक् होनेपर भी सूत्रमें मणियोंकीतरह आपमें ही ग्रथित हैं ॥ ३९ ॥ सब गुरुओं-के आदि रूप आपही जगद्गुरु हैं और ऋषियोंकेद्वारा यह ज्ञान-का स्रोत आपही बहाया करते हैं ॥ ४० ॥ देवताओंको शक्ति प्रदान करके कर्म्मोंकी व्यवस्था करते हुए सृष्टि स्थिति और लयका ठीक सामञ्जस्य विधान आपही करते हैं ॥ ४१ ॥ हे जगत्वन्द्य! आपही अपनी अद्भुत कृपाकेद्वारा पितृरूपसे मनुष्योंकी क्रमोन्नतिका विधान करते हैं ॥ ४२ ॥ हे परमात्मन्! आप अपने तेजसे आकर्षण करके इन जीवोंको क्रमशः मुक्ति प्रदान करते हैं। अतः आप सविता (सूर्य्य) हैं ॥ ४३ ॥ हे विश्ववन्द्य! आप चित्सत्ताका क्रमशः अभि-वर्द्धन करते हुए जीवोंको कैवल्यकीओर ले जाते हैं। अतः आप

त्वं स्वशक्तिप्रदानेन जीवान् कृत्वोर्द्ध्वगामिनः ।
क्रमान्नयसि तद्धाम परमं शक्तिरस्यतः ॥ ४५ ॥
त्वं बुद्धितत्त्वाऽभिव्यक्त्या जीवान् प्रज्ञाप्रदानतः ।
नयेर्बुद्धेः परं पारं गणेशोऽसि ततो विभो ! ॥ ४६ ॥
त्वं गुरो ! साङ्ख्ययोगस्य कर्म्मयोगस्य च द्वयोः ।
समन्वयस्याऽधिकारं दत्त्वा शङ्कर ! सर्व्वथा ॥ ४७ ॥
हृदये साधकस्यालमाविर्भावयसि स्वयम् ।
अद्वैतभावं परमं परशान्तिनिकेतनम् ॥ ४८ ॥
एतामवस्थामासाद्य साधको जगदात्मकः ।
स्वतः स्यात्खलु तस्मात्त्वं सदाशिव इति स्मृतः ॥ ४९ ॥
ब्रह्माण्डानामनन्तानां विधयो हरयो हराः ।
त्वच्छक्तिलेशमासाद्य स्वस्वब्रह्माण्डमण्डले ॥ ५० ॥
आप्नुवन्तीश्वरत्वं ते कृपादृष्टिं पुनस्तव ।
प्राप्याप्तुमर्हन्त्यन्ते तत् त्वत्स्वरूपमनव्ययम् ॥ ५१ ॥

विश्वको पालन करनेवाले विष्णु हैं ॥ ४४ ॥ आप अपनी शक्ति देकर जीवोंको ऊर्ध्वगामी करते हुए क्रमशः परमधामको पहुँचाते हैं । अतः आप शक्तिरूप हैं ॥ ४५ ॥ हे विभो ! आप बुद्धितत्त्वकी अभिव्यक्ति करके जीवोंको प्रज्ञाप्रदान करते हुए बुद्धिके परपारमें पहुँचाते हैं । अतः गणेशरूप हैं ॥ ४६ ॥ हे गुरो ! हे शङ्कर ! आप साधकको साङ्ख्ययोग और कर्म्मयोगके समन्वयका पूरा अधिकार देकर उसके हृदयमें परम शान्तिके निकेतन परम अद्वैत भावको अच्छी तरह स्वयं अविर्भाव करते हैं ॥ ४७-४८ ॥ इस अवस्थाको प्राप्त होकर साधक स्वतः ही जगदात्मक हो जाता है । अतः आप "सदा शिव" इस नामसे अभिहित होते हैं ॥ ४९ ॥ अनन्त ब्रह्माण्डोंके ब्रह्मा विष्णु महेश आपकी शक्तिके लेशको प्राप्त होकर अपने अपने ब्रह्माण्डमण्डलमें ईश्वरत्वको प्राप्त होते हैं और पुनः वे आपकी ही कृपादृष्टि प्राप्त करके अन्तमें आपके उस अव्यय स्वरूपको प्राप्त करनेमें समर्थ होते हैं ॥ ५०-५१ ॥ आप शब्दातीत होनेपर भी कर्णमें

शब्दातीतोऽसि कर्णस्य श्रुतिशक्तिप्रदोऽपि हि ।
त्वचि स्पर्शप्रदोऽपि त्वं स्पर्शातीतोऽसि सर्व्वथा ॥ ५२ ॥
दृष्टिशक्तिप्रदोऽप्यक्ष्णोर्दृष्ट्यतीतोऽसि हे गुरो !
रसातीतोऽसि रसना-रस-शक्तिप्रदोऽप्यलम् ॥ ५३ ॥
घ्राणातीतोऽसि भगवन् ! घ्राण घ्राणप्रदोऽपि सन् ।
सर्व्वतत्त्वादिरप्यत्र तत्त्वातीतोऽसि विश्वभृत् ॥ ५४ ॥
प्राणस्य प्राणरूपस्त्वं बुद्धेर्बुद्धिर्मनोमनः ।
प्राणबुद्धिमनोभिस्त्वं तथाऽपि न हि गृह्यसे ॥ ५५ ॥
अनाद्यनन्तं विश्वं हि त्वय्येव विद्यतेऽनिशम् ।
कदापि च न तत्र त्वमहो तव विचित्रता ॥ ५६ ॥
दयाप्रदर्शनायैव साधकानां दयामय ! ।
एतत् सगुणरूपं त्वं दधासि भक्तवत्सल ! ॥ ५७ ॥
अपारकरुणा देव ! तवाऽस्मासु ततो वयं ।
इदमानन्ददं रूपं दृष्ट्वा यामः कृतार्थताम् ॥ ५८ ॥

श्रवणशक्ति प्रदान करनेवाले हैं और आप त्वक्में स्पर्शशक्ति प्रदान करनेवाले होनेपर भी स्पर्शसे बिलकुल अतीत हैं ॥ ५२ ॥ आप आँखोंको दृष्टिशक्ति प्रदान करनेवाले होनेपर भी हे गुरो ! आप दृष्टिसे अतीत हैं और आप रसनाको रसशक्ति प्रदान करनेवाले होनेपर भी आप रससे सर्वथा अतीत हैं ॥ ५३ ॥ हे भगवन् ! आप घ्राणको घ्राणशक्ति प्रदान करनेवाले होने पर भी आप घ्राणातीत हैं और आप सब तत्त्वोंके आदि होनेपर भी हे विश्व-भृत् ! आप तत्त्वातीत हैं ॥ ५४ ॥ आप प्राणके भी प्राण, बुद्धिकी भी बुद्धि और मनके भी मन हैं तथापि आप प्राण बुद्धि और मनसे नहीं ग्रहण किये जाते हैं ॥ ५५ ॥ अनादि अनन्त विश्व निरन्तर ही आपमें है परन्तु उसमें आप कदापि नहीं हैं, अहो ! आपका यह कैसा वैचित्र्य है ॥ ५६ ॥ हे दयामय ! हे भक्तवत्सल ! साधकोंपर दया प्रदर्शन करनेके अर्थ ही आप इस सगुण रूपको धारण किया करते हैं ॥ ५७ ॥ हे देव ! हमलोगोंपर आपकी अपार करुणा है, इसी कारणसे हम इस आनन्द-प्रद रूपको देखकर कृतार्थताको

अपारकरुणातस्ते ह्यपारकरुणामय ! ।
तवाऽस्मिंश्चरणे भूयो भवामः प्रणता वयम् ॥ ५९ ॥

व्यास उवाच ॥ ६० ॥

इत्युदीर्य प्रणम्यापि भूयो भूयः सहस्रशः ।
तूर्ष्णीं ऋषिषु जातेषु सूर्यस्तान् सदयोऽब्रवीत् ॥ ६१ ॥

सूर्य्य उवाच ॥ ६२ ॥

महिमानं मम ख्यातं जगज्जीवशिवेच्छया ।
एतद्विज्ञानमय्यैव प्रचारयत शिक्षया ॥ ६३ ॥
इड़ापिङ्गलयोः सन्धौ सायं प्रातश्च भक्तितः ।
ध्यायतैतां विराड्मूर्त्तिं यूयं सद्वृत्तबुद्धयः ॥ ६४ ॥
मदेकचित्ता मद्युक्ता मद्भक्ता मत्परायणाः ।
मद्याजिनो मत्प्रणामा मत्स्था भवत सर्व्वथा ॥ ६५ ॥

प्राप्त हुए हैं ॥ ५८ ॥ हे आपारकरुणामय ! आपकी अपार करुणासे ही आपके इन चरणोंमें पुनः हम प्रणाम करते हैं ॥ ५९ ॥

व्यासजीने कहा ॥ ६० ॥

यह कहकर वे ऋषिगण सूर्य्यदेवको पुनः पुनः हजारों प्रणाम करने लगे और जब ऋषि चुप हुए, तब दयालु सूर्य्यदेवने उनसे कहा ॥ ६१ ॥

सूर्य्यदेवने कहा ॥ ६२ ॥

यह मेरी विख्यात महिमा जगत्‌के जीवोंकी कल्याण कामनासे विज्ञानमयी शिक्षाकेद्वारा आप संसारमें प्रचार करें ॥ ६३ ॥ इड़ा और पिंगलाकी संधिमें प्रातःकाल और सायंकाल भक्तिभावसे इस विराट् मूर्तिका आप शुद्ध बुद्धिद्वारा ध्यान किया करें ॥ ६४ ॥ केवल मुझमें ही चित्त लगाइये, मेरीओर सावधानतासे तत्पर होइये, मेरे भक्त होइये, मुझमें अनुरक्त होइये, मेरी पूजा करिये, मुझे नमस्कार करिये और मुझमें निरन्तर स्थित हो-

ममाऽव्ययं निर्व्विकारं सच्चिदानन्दरूपकम्।
स्वरूपमेवं सत्येव ज्ञातुं शक्नुत सन्ततम्॥ ६६॥

महर्षय ऊचुः॥ ६७॥

प्रभो! तथोपदेष्टव्यं वातवच्चपलं मनः।
यथा निगृह्य शक्ष्यामस्त्वां स्मर्तुं चिरशान्तये॥ ६८॥
देव! त्वमेव परम उपदेष्टाऽसि वस्तुतः।
तत्त्वतः श्रोतुमिच्छामो भक्तौ योगे च किञ्चन॥ ६९॥

सूर्य्य उवाच॥ ७०॥

भक्ता महर्षयः सम्यक् श्रूयतामीप्सितं हितम्।
यथार्थविषयासक्तिरनुरागः प्रकीर्तितः॥ ७१॥
अनुरागो बहुविधो विषयाणां विभेदतः।
पुत्रादिष्वनुरागः सः स्नेह इत्यभिधीयते॥ ७२॥
स्त्रीमित्रादिषु सः प्रेमा श्रद्धा स जनकादिषु।
मय्येव साधकानां स भक्तिरित्यभिधीयते॥ ७३॥

इये॥ ६५॥ तभी मेरे अव्यय, निर्विकार, सनातन और सच्चिदानन्द-मय स्वरूपको जाननेमें निरन्तर समर्थ हो सकेंगे॥ ६६॥

महर्षिगणने कहा॥ ६७॥

हे प्रभो! अब ऐसा उपदेश करें, जिससे वायुके समान चञ्चल मनको रोक कर स्थायी शान्तिकेलिये हम आपका स्मरण करनेमें समर्थ हों॥ ६८॥ हे देव! वास्तवमें आपही परम उपदेष्टा हैं, इस कारण आपसे ही भक्ति और योगके सम्बन्धमें हम कुछ सुनना चाहते हैं॥ ६९॥

श्रीसूर्यदेव बोले॥ ७०॥

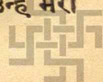
हे भक्त महर्षियो! जो कल्याणकारी विषय आप सुनना चाहते हैं, सो भली भाँति सुनिये। विषयोंमें यथार्थ आसक्तिको अनुराग कहते हैं॥ ७१॥ विषयोंके भेदसे अनुराग कईप्रकारका होता है, पुत्रादिमें जो अनुराग होता है, उसे स्नेह कहते हैं॥ ७२॥ स्त्री मित्रादिकोंमें जो अनुराग होता है, उसको प्रेम और माता पितादिमें जो अनुराग होता है, उसको श्रद्धा कहते हैं। साधक जो मुझमें

अशेषपुण्यसम्भाराऽमृतार्द्रीकृतचेतसाम् ।
लभ्येयं विविधा भाति वैधी रागात्मिका च सा ॥ ७४ ॥
गुरूपदेशपीयूष विधौतपूतमानसा ।
मदेकचित्ता भवितुं यतन्ते साधका यदा ॥ ७५ ॥
यदा स्वानीन्द्रियादीनि मदुपास्तौ तु सर्व्वथा ।
नियोजयितुमीहन्ते तदा वैधी प्रकाशते ॥ ७६ ॥
ततो योगं समभ्यस्य चित्तवृत्तीर्निरुध्य च ।
मद्भक्तौ क्रमशो धीर साधके सति मज्जति ॥ ७७ ॥
मद्भक्तिसागरेऽवर्ण्ये पीयूषरसजेतरि ।
उन्मज्जयति तं यैव निमज्जयति च स्फुटम् ॥ ७८ ॥
सैव रागात्मिका भक्तिरतीतवर्णनागतिः ।
विनानुभवमेतस्या रूपं सम्यग् न बुद्ध्यते ॥ ७९ ॥
पुण्यानां ज्ञानिभक्तानां भक्तिर्ज्ञानमयी तु या ।
सैव शुद्धा पराभक्तिः परकल्याणसाधिनी ॥ ८० ॥

अनुराग करते हैं, उसे भक्ति कहते हैं ॥ ७३ ॥ अनेक पुण्यपुञ्जरूप अमृतसे जिनके चित्त आर्द्र हो गये हों, उन्हींको प्राप्त होनेवाली यह भक्ति दोप्रकारकी होती है। एक वैधी और दूसरी रागात्मिका ॥ ७४ ॥ गुरुके उपदेशरूपी अमृतसे धुलकर जिनके मन पवित्र होगये हों, वे साधक जब मुझमें ही चित्तका लय करनेका यत्न करने लगते हैं, और अपनी सब इन्द्रियाँ मेरी ही उपासनामें लगा देनेकी इच्छा करते हैं, तब वैधी भक्तिका उदय होता है ॥ ७५-७६ ॥ फिर योगाभ्यास कर और चित्तवृत्तिका निरोधकर क्रमशः जो धीर साधक मेरी भक्तिमें डूबता है ॥ ७७ ॥ अमृतको भी जीतनेवाले वर्णनातीत मेरे भक्तिरूपी उस सागरमें उसे जो उन्मज्जन तथा निमज्जन कराती है ॥७८॥ वही रागात्मिका भक्ति है, जो वर्णनातीत है। विना अनुभवके इसका रूप भलीभाँति विदित नहीं हो सकता ॥ ७९ ॥ पुण्यात्मा ज्ञानी भक्तोंकी जो ज्ञानमयी भक्ति है, वही शुद्ध पराभक्ति परमकल्याणसाधिनी है ॥ ८० ॥ चित्तवृत्तियोंके निरोधकेलिये और

निरोधे चित्तवृत्तीनां संयमे च मयिस्थिरे।
विहितो य उपायोऽस्ति स एव योग उच्यते ॥ ८१ ॥
योगोऽत्र शास्त्रे विज्ञेयः प्राधान्येन चतुर्विधः।
बुभुत्सवो धीरचित्ताः ज्ञातव्यं श्रूयतां स्फुटम् ॥ ८२ ॥
महर्षयो मन्त्रयोगो हठयोगस्तथा शुभः।
लययोगो राजयोगो ज्ञेया एते प्रयत्नतः ॥ ८३ ॥
संसारे रागवन्तोऽपि ये मत्सन्न्यस्तमानसाः।
भावपूर्णो मन्त्रयोगस्तेषां परमभद्रदः ॥ ८४ ॥
विषयासक्तिशून्यानामपि येषां वपुः स्वतः।
विषयीव ध्रुवं तेषां हठयोगो हितप्रदः ॥ ८५ ॥
येषां मनः शरीरञ्च योगोपयोगिनी सदा।
लययोगक्रिया तेषामनुकूला विशेषतः ॥ ८६ ॥
त्रिषु मन्त्रादियोगेषु तेषु मुख्याधिकारिणाम्।
राजयोगाधिकारे हि घटते मम दर्शनम् ॥ ८७ ॥

मुझमें उनका स्थिर संयम करनेकेलिये जो विहित उपाय है, वही योगके नामसे अभिहित होता है, ॥ ८१ ॥ शास्त्रोंमें योग प्रधान-तथा चारप्रकारका होता है। आप धीरप्रकृति और ज्ञानेच्छु हैं इसकारण आपको जो जानना है, सो स्पष्टतया सुनिये ॥ ८२ ॥ हे महर्षियो! मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग ये प्रयत्न-पूर्वक जानलेने चाहिये ॥ ८३ ॥ संसारमें अनुराग होनेपर भी जिन्होंने अपने चित्त मुझमें लगा दिये हों, उन्हें भावपूर्ण मन्त्रयोग परम कल्याणकारी है ॥ ८४ ॥ जो विषयासक्तिशून्य हैं परन्तु जिनका शरीर विषयीके समान हो, उनको हठयोग हितकारी है ॥ ८५ ॥ जिनका शरीर और मन योगके उपयोगी हो, उनकेलिये सदा लययोगकी क्रिया विशेष अनुकूल होती है ॥ ८६ ॥ उक्त मन्त्रयोग हठयोग और लययोगोंमेंसे किसी एकमें भी जो मुख्य अधिकारी हों, वे ही राजयोगके अधिकारी हैं और इसी अधिकारमें उन्हें मेरा



मद्दर्शननिदानत्वात्प्रधानत्वाच्च सर्व्वतः ।
योगानां परमत्वाच्च राजयोग इतीर्य्यते ॥ ८८ ॥
मद्भक्ताः साधकाः सम्यग् राजयोगाधिकारिणः ।
मत्स्वरूपं विजानन्तो जीवन्मुक्ता भवन्ति ते ॥ ८९ ॥

इति श्रीसूर्य्यगीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
सूर्यर्षिसम्वादे ब्रह्मणोऽधिभूतरूपदर्शन-योग-
विज्ञानवर्णनं नाम षष्ठोऽध्यायः ।

***

दर्शन होता है ॥ ८७ ॥ मेरे दर्शन करानेका प्रधान कारण स्वरूप है, सबसे प्रधान है और सब योगोंमें श्रेष्ठ है, इसीसे इसे राजयोग कहते हैं ॥ ८८ ॥ राजयोगके उत्तम अधिकारी मेरे भक्त साधकगण मेरे स्वरूपको जानकर जीवन्मुक्त हो जाते हैं ॥ ८९ ॥

इसप्रकार श्रीसूर्य्यगीतोपनिषद्के ब्रह्मविद्यासम्बन्धि सूर्यर्षिसम्वादात्मक योगशास्त्रका ब्रह्मके अधिभूतरूपदर्शन और योग विज्ञान-वर्णन नामक षष्ठ अध्याय समाप्त ।

***



॥ अथ सप्तमोऽध्यायः ॥

महर्षय ऊचुः ॥ १ ॥

जगद्गुरो! विश्ववन्द्य! हे देव! भुवनेश्वर!।
कर्मिश्रेष्ठस्य तु ब्रूया जीवन्मुक्तस्य लक्षणम् ॥ २ ॥
यत्स्वरूपं सुविज्ञाय कृपातस्तव हे गुरो!।
यतितुं प्रभविष्यामो वयमस्मै पिपासवः ॥ ३ ॥

सूर्य्य उवाच ॥ ४ ॥

शृणुध्वं संप्रवक्ष्यामि कर्मिश्रेष्ठस्य लक्षणम्।
यच्छ्रुत्वा नैव भूयोऽन्यच्छ्रोतव्यमवशिष्यते ॥ ५ ॥
भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ६ ॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं वित्त मे परां।
जीवभूतां हि मुनयः ययेदं धार्यते जगत् ॥ ७ ॥
कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥ ८ ॥

महर्षिगणने कहा ॥ १ ॥

हे संसारके वन्दनीय! हे जगद्गुरो! हे चतुर्दशभुवनोंके ईश्वर! हे देव! अब कर्मिश्रेष्ठ जीवन्मुक्तोंका लक्षण कहिये ॥ २ ॥ जिसका स्वरूप आपकी कृपासे जानकर हे गुरो! उसके पिपासु हमलोग उसमें यत्नवान् होंगे ॥ ३ ॥

श्रीसूर्यदेव बोले ॥ ४ ॥

अब मैं कर्मिश्रेष्ठका लक्षण कहता हूँ, जिसे सुनकर आप लोगोंके-लिये कुछ भी सुनना अवशेष न रहेगा ॥ ५ ॥ पृथिवी जल तेज वायु आकाश मन बुद्धि और अहङ्कार, मेरी प्रकृति उक्त आठ प्रकारसे विभक्त है ॥ ६ ॥ हे मुनिगण! उक्त प्रकृति अपरा (निकृष्टा) है, इसकी अपेक्षा परा (उत्कृष्टा) और एकजीवस्वरूपा (चेतनामयी) मेरी प्रकृति है, उसको जानना चाहिये, जो प्रकृति इस जगत्की रक्षा करती है ॥ ७ ॥ कार्य और कारण इन दोनोंके कर्तृत्वमें प्रकृति ही हेतु कही जाती है और पुरुष

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ ९ ॥
उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाऽप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ॥ १० ॥
य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिश्च गुणैः सह ।
ज्ञानविज्ञानयुक्तो हि स कर्मिश्रेष्ठ उच्यते ॥ ११ ॥
अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ १२ ॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिः स कर्मिश्रेष्ठ उच्यते ॥ १३ ॥
यस्य देहः स्वकीयोऽपि सर्वथा न प्रतीयते ।
नेन्द्रियाणि च सर्वाणि स कर्मिश्रेष्ठ उच्यते ॥ १४ ॥

सुखदुःखादिके भोक्तृत्वमें हेतु कहा जाता है ॥ ८ ॥ पुरुष प्रकृतिस्थ होकर प्राकृतिक सकल गुणोंका भोग करता है, सत् और असत् योनिमें पुरुषके जन्मका कारण उसका सत्वरजस्तमोगुणोंसे सङ्ग है ॥ ९ ॥ इस प्रकृतिके कार्यस्वरूप शरीरमें वर्तमान रहकर भी पुरुष प्रकृतिके कार्यस्वरूप देहसे भिन्न हैं अर्थात् प्रकृतिके गुणोंसे युक्त नहीं हैं, इसकारण वे उपद्रष्टा (साक्षिमात्र) अनुमन्ता (अनुग्राहक) भर्ता (भरणकर्ता) भोक्ता (प्रतिपालक) महेश्वर (ब्रह्मादिके भी अधिपति) और परमात्मा (अन्तर्यामी) भी कहे गये हैं ॥ १० ॥ जो इसप्रकार पुरुषका ज्ञान प्राप्त कर लेता है और गुणोंके सहित प्रकृतिको भी जान लेता है तथा ज्ञान विज्ञानसे युक्त है, उसीको कर्मिश्रेष्ठ कहते हैं ॥ ११ ॥ जो सब प्राणिमात्रका अद्वेष्टा, मैत्र और कृपालु हो, जो ममताहीन, निरहङ्कार, सुखदुःखमें समानता जाननेवाला, क्षमाशील, सदा सन्तुष्ट, संयतचित्त, योगी, मुझमें स्थिर लक्ष्य रखनेवाला और मेरेमें मन और बुद्धिको समर्पण करनेवाला हो, वही कर्मिश्रेष्ठ है ॥ १२-१३ ॥ जिसे अपने शरीर और इन्द्रियोंकी सर्वथा प्रतीति नहीं होती, वह कर्मिश्रेष्ठ है ।

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्विप्रा मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स कर्म्मिश्रेष्ठ उच्यते॥ १५॥
यस्य प्राणाः प्रशान्तास्युर्मनआदीनि च स्वयम्।
अव्यक्तान्तानि सर्वाणि स कर्म्मिश्रेष्ठ उच्यते॥ १६॥
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स कर्म्मिश्रेष्ठ उच्यते॥ १७॥
नाऽहंभावश्च यस्याऽस्ति नेदंभावश्च कुत्रचित्।
सर्वद्वन्द्वविहीनात्मा स कर्म्मिश्रेष्ठ उच्यते॥ १८॥
प्राग्बद्धोऽहं विमुक्तोऽद्येत्येवं यस्य स्मृतिर्न च।
नित्यमुक्तस्वरूपः सन् स कर्म्मिश्रेष्ठ उच्यते॥ १९॥
यः सर्वत्राऽनभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाऽभिनन्दति न द्वेष्टि स कर्म्मिश्रेष्ठ उच्यते॥ २०॥
विदेहमुक्तो यः प्रोक्तो वरिष्ठो ब्रह्मवेदिनाम्।
अरूपो नष्टचित्ताऽसुः स कर्म्मिश्रेष्ठ उच्यते॥ २१॥

॥ १४॥ हे विप्रो! परमानन्दस्वरूप आत्मामें स्वयं संतुप्त होकर जब योगी मानसिक सकल कामनाओंका परित्याग करता है, तब वह कर्म्मिश्रेष्ठ कहा जाता है॥ १५॥ जिसके प्राण और मनआदि स्वयं प्रशान्त तथा अव्यक्तभावमें स्थित हों, वह कर्म्मिश्रेष्ठ है॥ १६॥ जो दुःख प्राप्त होनेपर अनुद्विग्नचित्त और सुख प्राप्त होनेपर स्पृहाशून्य हो एवं जो अनुराग भय और क्रोधशून्य हो, वह कर्म्मिश्रेष्ठ कहा जाता है॥ १७॥ जिसे न तो अहम्भाव हो और न इदम्भाव हो और जिसका आत्मा सबप्रकारके द्वन्द्वोंसे रहित हो वह कर्म्मिश्रेष्ठ है ॥ १८॥ मैं पहले बद्ध था, अब मुक्त हो गया, इस तरहका जिसे स्मरण न हो और जो नित्य मुक्तस्वरूपमें स्थित हो वह कर्म्मिश्रेष्ठ है ॥ १९॥ जो सब विषयोंमें ममतारहित है और उन उन शुभाशुभोंको प्राप्त होकर आनन्द वा विषाद नहीं करता है, उसको कर्म्मिश्रेष्ठ कहते हैं॥ २०॥ जो विदेहमुक्त और ब्रह्मवादियोंसे श्रेष्ठ है तथा जो रूप-सम्बन्धरहित हो और जिसका चित्त एवं प्राण स्वरूपशून्य हो

यदा संहरते चाऽयं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियाऽर्थेभ्यः स कर्मिश्रेष्ठ उच्यते ॥ २२ ॥
कर्माणि यस्य सर्वाणि वासनात्रयजानि च ।
अभवन्नुपशान्तानि स कर्मिश्रेष्ठ उच्यते ॥ २३ ॥
मुनयो यततश्चाऽपि पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥ २४ ॥
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि स कर्मिश्रेष्ठ उच्यते ॥ २५ ॥
कर्माणि कर्मभिः शुद्धैरशुद्धान्युपमृद्य यः ।
सकर्मब्रह्ममात्रोऽभूत् स कर्मिश्रेष्ठ उच्यते ॥ २६ ॥
ज्ञानिनामपि यः श्रेष्ठः सप्तमीं भूमिकां गतः ।
उपासकानां यश्चैकः स कर्मिश्रेष्ठ उच्यते ॥ २७ ॥
यः सर्वैः पीडितोऽपि स्यान्निर्विकारोऽपि पूजितः ।
सुखदुःखे न यस्य स्तः स कर्मिश्रेष्ठ उच्यते ॥ २८ ॥

गया हो, वह कर्मिश्रेष्ठ है ॥ २१ ॥ जब साधक इन्द्रियोंके सब विषयोंसे इन्द्रियोंको, कछुआ जैसे अपने अङ्गोंको संकुचित करता है, वैसे सर्वदा प्रत्याहार करता है, तब वह कर्मिश्रेष्ठ कहा जाता है ॥ २२ ॥ तीनप्रकारकी वासनाओंसे उत्पन्न होनेवाले सब कर्म जिसके शान्त हो गये हों, वह कर्मिश्रेष्ठ है ॥ २३ ॥ हे मुनियों ! प्रमत्त इन्द्रियगण मोक्षमें प्रयत्नशील विवेकी पुरुषके भी मनको बलपूर्वक हरण करते हैं ॥ २४ ॥ योगी उन इन्द्रियोंको संयत करके मत्परायण होकर स्थित रहते हैं। अतः इन्द्रियाँ जिसके वशमें हैं, वह कर्मिश्रेष्ठ कहा जाता है ॥ २५ ॥ शुद्ध कर्मोंसे अशुद्ध कर्मोंका नाश करके जो केवल कर्मब्रह्म हो गया हो अर्थात् जो जैव कर्मोंसे रहित होकर केवल ऐश और सहज कर्मोंमें रत हो, वह कर्मिश्रेष्ठ है ॥ २६ ॥ सातवीं भूमिमें पहुँचनेकेकारण जो ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ और उपासकोंमें अद्वितीय हो वही कर्मिश्रेष्ठ है ॥ २७ ॥ जो सब लोगोंद्वारा पीडित अथवा पूजित होनेपर भी निर्विकार रहे और जिसके सुख दुःख छूट

यः सर्व्वैर्मनुजैः पूज्यो यः सर्व्वैश्च सुरासुरैः।
ब्रह्मविष्णुशिवैर्यश्च स कर्म्मिश्रेष्ठ उच्यते॥ २९॥

त्यक्त्वा कर्म्माणि सर्व्वाणि स्वात्ममात्रेण तिष्ठतः।
कथं कर्म्मित्वमित्येवं शङ्कयतां मा महर्षयः॥ ३०॥

कर्म्मणां फलमेषा हि स्वात्ममात्रेण संस्थितिः।
अतः सफलकर्म्मैष कर्म्मिश्रेष्ठो भवेद्ध्रुवम्॥ ३१॥

ज्ञानेन ज्ञायते यद्वा उपास्त्या चोपलभ्यते।
तत् स्थिरं प्राप्यतेऽनेन कर्मणाऽतोऽस्य कर्म्मिता॥ ३२॥

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्व्वारम्भपरित्यागी स कर्म्मिश्रेष्ठ उच्यते॥ ३३॥

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी स कर्म्मिश्रेष्ठ उच्यते॥ ३४॥

गये हों, वह कर्म्मिश्रेष्ठ है॥ २८॥ जो सब मनुष्योंका, सब देवताओंका, सब दानवोंका तथा ब्रह्मा विष्णु महेश्वरका पूजनीय हो, वह कर्म्मिश्रेष्ठ है॥ २९॥ सब कर्मोंको छोड़कर जो केवल आत्माराम हो रहा हो, वह कर्म्मी कैसे हो सकता है ? हे महर्षियों ! इसप्रकारकी शङ्का मत करो॥ ३०॥ आत्माराम पद प्राप्त करना ही कर्म्मोंका फल है। अतः जो सफलकर्म्मा हो, वह निःसन्देह कर्म्मिश्रेष्ठ है॥ ३१॥ जो निश्चित पद ज्ञानसे जानाजाता है अथवा उपासनासे प्राप्त होता है, वही कर्म्मसे भी मिलता है। इसलिये ऐसे साधककी कर्म्मिता सिद्ध होती है॥ ३२॥ जो सकल विषयोंमें निस्पृह, शुचि, अनलस, उदासीन (पक्षपातशून्य), चिन्ताशून्य और संङ्कल्पविकल्पशून्य हो, वह कर्म्मिश्रेष्ठ है॥ ३३॥ जो प्रिय वस्तु पाकर हृष्ट नहीं होता है और अप्रिय वस्तु पाकर द्वेष नहीं करता है, इष्ट वस्तुके नाशमें जो शोक नहीं करता है और अप्राप्त वस्तुकी आकाङ्क्षा नहीं करता है एवं जो पुण्य पापका परित्याग करनेवाला है, वह कर्म्मिश्रेष्ठ कहाजाता है॥ ३४॥ शरीरके रहते हुए देहाध्यास

देहेऽस्मिन् वर्तमानेऽपि देहस्मृतिविवर्जनात् ।
विदेहमुक्त इत्युक्तः कथं कर्म्मीति चोच्यते ॥ ३५ ॥
देहविस्मृतिमत्त्वेऽपि कर्म्मदेहे स्थितत्वतः ।
अन्यदृष्ट्याऽस्य देहित्वात् कर्म्मित्वमुपपद्यते ॥ ३६ ॥
देहस्थत्वादपूर्णः स्यादिति शङ्क्यं न किञ्चन ।
तडागमग्नकुम्भस्थं जलं पूर्णं हि दृश्यते ॥ ३७ ॥
प्रारब्धकर्म्ममुक्तोऽपि भोगान्मुक्तोऽपि चाऽखिलात् ।
धर्मकार्य्ये स्थितः कर्म्मी देहे स्याद्भोगसाधने ॥ ३८ ॥
साधने सति देहेऽपि साध्यो भोगो न सिद्ध्यति ।
देहविस्मृतिमत्वेन देहहीनसमत्वतः ॥ ३९ ॥
आहिताऽग्नित्वसंसिद्ध्यै ज्योतिष्टोमे कृतेऽपि च ।
यथा न स्वर्गमाप्नोति निष्कामः पुरुषर्षभः ॥ ४० ॥
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यात्मसन्धित्रयकृताऽमृतः ।
सर्वसन्ध्यादिरहितः सन्धिभिर्वन्द्यते सदा ॥ ४१ ॥

छूट जानेकेकारण जो विदेहमुक्त हो जाता है, वह कर्मी कैसे हो सकता है, सो कहता हूँ ॥ ३५ ॥ देहकी विस्मृति होनेपर भी कर्म-देहमें उसकी स्थिति रहनेकेकारण दूसरी दृष्टिसे उसका देहित्व बना ही रहता है और इसीसे उसे कर्मी कहनेमें कोई हानि नहीं है ॥ ३६ ॥ देही होनेकेकारण वह अपूर्ण है, ऐसी भी शङ्का करनेका कोई कारण नहीं है क्योंकि तालाबमें डूबे हुए घड़ेका पानी पूर्ण ही देख पड़ता है ॥ ३७ ॥ प्रारब्धकर्म तथा सम्पूर्ण भोगोंसे मुक्त होनेपर भी भोगके साधनभूत शरीरमें केवल धर्मकार्य करता हुआ ही स्थित रहता है—अतः वह कर्मी है ॥ ३८ ॥ भोगके साधन रूप शरीरके विद्यमान रहनेसे भी उससे भोग सिद्ध नहीं होते क्योंकि कर्मीको देहकी विस्मृति हो जानेसे वह विदेह हो जाता है ॥ ३९ ॥ इसका उदाहरण यह कह सकते हैं कि, अग्निहोत्रकी सिद्धिकेलिये निष्काम कर्मयोगी अग्निष्टोम करे, तो भी उसे स्वर्गमें जाना नहीं पड़ता ॥ ४० ॥ जो जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों सन्धियोंमें एकरूपता प्राप्त करके अमर हो चुका है, वह सब सन्धियोंसे रहित होकर सन्धियोंका ही वन्दनीय

यः सर्वकर्मिभिर्वन्द्यो नित्यं सर्वैरकर्मिभिः।
स कर्मिप्रवरोऽकर्मिप्रवरश्चेति कथ्यते ॥ ४२ ॥
सर्वसाम्यमुपेतस्य स्वात्मारामस्य योगिनः।
सहस्रशः कृतैः किं वा वन्दनैरकृतैश्च वा ॥ ४३ ॥
देहादिषु विकारेषु स्वीयत्वं स्वत्वपूर्वकम्।
विहाय नित्यनिष्ठाभिः स्वमात्रः स विराजते ॥ ४४ ॥
इन्द्रियार्थैर्विमूढ़ानां दुष्कर्मित्वं निगद्यते।
तैरपेतः सुकर्म्म्येष विदेह इति कथ्यते ॥ ४५ ॥
यः सर्व्वद्वन्द्वनिर्मुक्तः सर्व्वत्रिपुटिवर्जितः।
सर्व्वाऽवस्थाविहीनः स विदेह इति कथ्यते ॥ ४६ ॥
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानाऽपमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥ ४७ ॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्विदेह इति कथ्यते ॥ ४८ ॥

हो जाता है ॥ ४१ ॥ जो सब कर्मी और अकर्मियोंकेलिये वन्दनीय हो, वही सच्चा कर्मिश्रेष्ठ और अकर्मिश्रेष्ठ अर्थात् कर्मरहित कहा जा सकता है ॥ ४२ ॥ जिसकेलिये सभी समान हैं, उस आत्माराम योगीको कोई सहस्रों प्रणाम करे या न करे दोनों ही उसकेलिये समान है ॥ ४३ ॥ देहादिमें और उनके विकारोंमें जिसने अपने स्वत्वका त्याग कर दिया हो, वह नित्य निष्ठाओंसे केवल स्वरूप-में ही सदा विराजमान रहता है ॥ ४४ ॥ इन्द्रियोंके विषयोंसे जो मोहित है, उन्हें कुकर्म्मी कहते हैं। उन कर्म्मोंको छोड़कर जो सुकर्म्मा बन गया हो, वही विदेह मुक्त है ॥ ४५ ॥ सबप्रकारके द्वन्द्व, समस्त त्रिपुटि और समग्र अवस्थाओंसे जो अतीत हो, वही विदेहमुक्त है ॥ ४६ ॥ जो शत्रु और मित्रमें एवं मान और अपमानमें एकरूप, शीत उष्ण सुख और दुःखमें विकार हीन, आसक्ति शून्य, निन्दा और प्रशंसामें समभावापन्न, मौनी, जो कुछ प्राप्त हो उसीसे सन्तुष्ट, वासस्थानहीन और स्थिरचित्त व्यक्ति है, वह विदेह

लौकिकं वैदिकं कर्म सर्वं यस्मिन् क्षयं गतं ।
यस्मान्नैवाणुमात्रश्च विदेह इति कथ्यते ॥ ४९ ॥
यस्येन्द्रियाणि सर्वाणि न चलन्ति कदाचन ।
भित्तिस्थचित्राङ्गानीव विदेह इति कथ्यते ॥ ५० ॥
आत्मानं सत्यमद्वैतं केवलं निर्गुणामृतम् ।
सम्पश्यतः सदा स्वाऽन्यविकारस्फुरणं कुतः ॥ ५१ ॥
आदिमध्यान्तरहितचिदानन्दस्वरूपिणः ।
स्थितप्रज्ञस्य को बाधः शरीरेण स्वयोगिनः ॥ ५२ ॥
कर्माणि कर्मणा त्यक्त्वा ब्रह्मणा ब्रह्मणि स्थितः ।
कर्मणा शर्म सततं सम्प्राप्तस्य विराजते ॥ ५३ ॥
बुद्धेस्तैक्ष्ण्यश्च मौढ्यश्च यस्य नैवाऽस्ति किञ्चन ।
बुद्धेः पारंगतस्सोऽयं प्रबुद्धश्शोभतेतराम् ॥ ५४ ॥
मनस्तथैव संलीनं चितीव लवणं जले ।
एवं निरन्तरात्मीयनिष्ठया सोऽद्वयोऽभवत् ॥ ५५ ॥

मुक्त है—ऐसा कहा जाता है ॥ ४७-४८ ॥ लौकिक और वैदिक सभी कर्म्म जिसके क्षयको प्राप्त होगये हों, अणुमात्र भी शेष न रह गये हों, वही विदेहमुक्त है ॥ ४९ ॥ जिसके सब इन्द्रिय कभी चञ्चल न होते हों और भीतपर लिखे हुए चित्रोंकीतरह सदा निश्चल रहें, वही विदेहमुक्त है ॥ ५० ॥ जो निरन्तर अपनेको सत्य, अद्वैत, केवल, निर्गुण और अमृतस्वरूप देखता हो, उसको अपनेसे भिन्न विकारोंका स्फुरण ही नहीं होगा ॥ ५१ ॥ जो आत्मामें रममाण, आदि मध्य और अन्तसे रहित, सच्चिदानन्दस्वरूप एवं स्थितप्रज्ञ हो, उसको शरीर रहनेसे ही क्या बाधा पहुँच सकती है ॥ ५२ ॥ कर्मसे कर्मोंको छोड़कर ब्रह्मकेद्वारा ब्रह्ममें ही जो स्थित हैं, वे कर्मसे अखण्ड कल्याणको प्राप्त होकर विराजमान रहते हैं ॥ ५३ ॥ जिसकी बुद्धिमें न तीक्ष्णता है और न मूढता ही है, वह बुद्धिके परे रहकर सदा प्रबुद्ध (जागृत) अवस्थामें शोभा पाता है ॥ ५४ ॥ जिसका मन चित्सत्तामें उसप्रकार लीन हो, जिसप्रकार जलमें नमक लीन हो जाता है, वह निरन्तर आत्मीय निष्ठासे अद्वैतभावमय

समनस्कान् महद्दुःखममनस्कस्य तत्कुतः ।
समनस्को हि सङ्कल्पान् कुरुते दुःखकारिणः ॥ ५६ ॥
प्रारब्धकर्मजं दुःखं जीवनमुक्तस्य कथ्यते ।
कर्मत्रयविहीनस्य विदेहस्य कथन्नु तत् ॥ ५७ ॥
कर्म कर्तव्यमिति वा न कर्तव्यमितीह वा ।
यदि मन्येत वैदेहीं न मुक्तिं प्राप्तवांस्तु सः ॥ ५८ ॥
समाधिर्वाऽथ कर्त्तव्यो न कर्त्तव्य इतीह वा ।
यदि मन्येत वैदेहीं न मुक्तिं प्राप्तवांस्तु सः ॥ ५९ ॥
पूर्वं बद्धोऽधुना मुक्तोऽस्म्यहमित्येव बन्धनात् ।
यदि मन्येत वैदेहीं न मुक्तिं प्राप्तवांस्तु सः ॥ ६० ॥
पूर्वमप्यभवन् मुक्तो मध्ये भ्रान्तिस्तु बन्धवत् ।
यदि मन्येत वैदेहीं न मुक्तिं प्राप्तवांस्तु सः ॥ ६१ ॥
बन्ध्यापुत्रादिवत्सर्वं मय्यभूदसदित्यपि ।
यदि मन्येत वैदेहीं न मुक्तिं प्राप्तवांस्तु सः ॥ ६२ ॥

हो गया है ऐसा जानना चाहिये ॥ ५५ ॥ मनके अस्तित्वसे ही दुःख होता है क्योंकि मन ही दुःखकारी संकल्प करता है। जो मानसरहित है, उसे दुःख छूता तक नहीं ॥ ५६ ॥ जीवन्मुक्तको प्रारब्ध कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाले दुःख भोगने पड़ते हैं परन्तु कर्मत्रय-विहीन विदेह पुरुषकेलिये ऐसा कैसे सम्भव है ॥ ५७ ॥ अमुक कर्म करना है अथवा अमुक नहीं करना इसप्रकारका विधि-निषेध जो मानता हो, उसे विदेहमुक्ति प्राप्त नहीं हुई, ऐसा जानना चाहिये ॥ ५८ ॥ समाधि करना है अथवा नहीं करना है, इसका जो विचार करे, उसे विदेहमुक्ति प्राप्त नहीं हुई, ऐसा जानना चाहिये ॥ ५९ ॥ पहिले मैं बद्ध था और अब बन्धनसे मुक्त हुआ हूँ ऐसा जो माने, उसे विदेहमुक्ति प्राप्त नहीं हुई है ॥ ६० ॥ पहिले मैं मुक्त ही था, पर बीचमें भ्रमके चक्करमें पड़कर बद्धकीतरह अपनेको समझने लगा था, ऐसा जो माने, वह भी विदेहमुक्त नहीं कहा जा सकता ॥ ६१ ॥ बन्ध्यापुत्रकी तरह मुझमें सब कुछ असत् हो गया—ऐसा जो माने, उसे विदेहमुक्ति प्राप्त नहीं हुई है ॥ ६२ ॥

आविद्यकं तमो ध्वस्तं स्वप्रकाशेन वा इति ।
यदि मन्येत वैदेहीं न मुक्तिं प्राप्तवांस्तु सः ॥ ६३ ॥
स्वप्नेऽपि नाऽहंभावोऽस्ति मम देहेन्द्रियादिषु ।
यदि मन्येत वैदेहीं न मुक्तिं प्राप्तवांस्तु सः ॥ ६४ ॥
अरूपनष्टमनसो विदेहत्वं प्रकीर्त्यते ।
तत् कथं मन्यमानस्य यत्किंचित् स्यादनात्मनः ॥ ६५ ॥
मनो नश्यति निःशेषं मननस्य विसर्जनात् ।
अमनस्कस्वभावं तत्पदं तस्याऽवशिष्यते ॥ ६६ ॥
यस्य सर्व्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥ ६७ ॥
मननेन विनिश्चित्य वैदेहीं मुक्तिमात्मनः ।
नैष्कर्म्म्यसिद्धिं वदतां का तृप्तिरविवेकिनाम् ॥ ६८ ॥
स्वानुभूतिं विना यद्यत्कुर्वन्ति भुवि मानवाः ।
तत्तत्सर्वं वृथैव स्यान्मरुभूमौ कृषिर्यथा ॥ ६९ ॥

स्वप्रकाशसे अविद्याके अन्धकारका नाश हो गया है, यह जिसकी भावना हो जाय, वह विदेहमुक्त नहीं है ॥ ६३ ॥ देह और इन्द्रियादिके विषयमें मुझे अहंभाव नहीं है, ऐसा जो स्वप्नमें भी माने उसे विदेह-मुक्ति प्राप्त नहीं हुई है ॥ ६४ ॥ रूप और मन जिसका नष्ट हो गया हो, वही सच्चा विदेहमुक्त है। जो केवल चिन्तामात्रसे ही ऐसा मानता है कि मैं विदेहमुक्त हूँ, ऐसे अनात्माको भला विदेह पद कैसे प्राप्त हो सकता है ॥ ६५ ॥ मननके त्यागसे ही मनोनाश होता है और तब विदेहमुक्तिके अधिकारीकेलिये अमनस्क स्वभावमात्र ही अवशिष्ट रहता है ॥ ६६ ॥ जिसके सब कार्य्यारम्भ कामसंकल्प-रहित हैं ज्ञानाग्निसे दग्धकर्म्मा उस महापुरुषको विज्ञ लोग पण्डित (विदेहमुक्त) कहते हैं ॥ ६७ ॥ जो व्यक्ति मनसे ही अपनी विदेहमुक्ति हुई है—ऐसा समझकर नैष्कर्म्म्य सिद्धिकी बातें केवल मुखसे कहते हैं, ऐसे अविवेकियोंकी तृप्ति कैसे हो सकती है ॥ ६८ ॥ स्वानुभवके विना पृथ्वीमें मनुष्य जो कुछ करते हैं, वह मरुभूमिमें

स्वानुभूत्यर्थकं कर्म निकृष्टमपि सर्वथा।
उत्तमं विबुधैः श्लाघ्यं नाऽत्र कश्चन संशयः॥ ७०॥
यस्तु वश्येन्द्रियं शान्तं निष्कामं सद्गुरुं सदा।
स्वात्मैकरसिकं मुक्त्यै स धीमानुपगच्छति॥ ७१॥
काम्यकर्म्माणि चोत्सृज्य निष्कामो यो मुमुक्षया।
शान्त्यादिगुणसंयुक्तं गुरुं प्राप्तः स मुच्यते॥ ७२॥
ज्ञानाभिमानी कश्चित्तु गुरुभक्तिं विना क्वचित्।
रहस्यमस्या गीतायाः सम्यग् ज्ञातुं न शक्नुयात्॥ ७३॥
गुरुभक्तिविहीनस्तु साधको नैव कश्चन।
अस्याः पाठेन गीतायाः मत्सान्निध्यं प्रलप्स्यते॥ ७४॥
मन्त्ररूपेऽपि शब्देऽस्या गुरुभक्तिं विनानया।
सूर्ययागेऽनुष्ठितेऽपि साधकः सफलो न हि॥ ७५॥
कर्म्म वोपासना वाऽपि ज्ञानं वा भवति ध्रुवं।
तत्र सर्व्वेषु वर्त्तेत गुरुभक्तेः प्रधानता॥ ७६॥

खेती करनेके समान व्यर्थ हो जाता है॥ ६९॥ स्वानुभवसे युक्त अर्थात् अध्यात्म लक्ष्ययुक्त होकर जो कर्म किया जाता है, वह निकृष्ट कर्म भी देवताओंको अत्यन्त प्रिय होता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है॥ ७०॥ जिसके इन्द्रिय वशमें हों, जो शान्त हो, जो निष्काम हो, जो आत्माराम हो, ऐसे सद्गुरुके पास मुक्तिकी इच्छासे जो जाता है, वही बुद्धिमान् है॥ ७१॥ काम्य कर्मोंको छोड़कर जो निष्काम हो गया है और जो शान्तिआदि गुणोंसे युक्त सद्गुरुको मुक्तिकी इच्छासे प्राप्त हुआ है, वह मुक्त होता है॥ ७२॥ कोई भी ज्ञानाभिमानी कहीं भी गुरुभक्तिके विना इस गीताका रहस्य अच्छी रीतिसे नहीं समझ सकता है॥ ७३॥ गुरुभक्तिहीन कोई भी साधक इस गीताके पाठ करनेसे मेरे सान्निध्यको नहीं प्राप्त होगा॥ ७४॥ इस गीताके शब्द मंत्ररूप होनेपर भी गुरुभक्तिके विना इसकेद्वारा अनुष्ठान किया हुआ सूर्य्ययाग साधकको सफलता नहीं दे सकता॥ ७५॥ कर्म्म उपासना और ज्ञान इनमें से कोई भी हो, इन सबमें गुरु भक्तिकी प्रधानता है॥ ७६॥

कल्याणायैव सर्व्वेषां गीतेयं श्राविता मया ।
एतां प्रचार्य सर्व्वत्र यूयं कुरुत मङ्गलम् ॥ ७७ ॥

गुरुश्रद्धाविहीनेभ्यो नास्तिकेभ्यश्च साधकाः ।
अविश्वासाऽपवित्रेभ्यो न देयैषा कदाचन ॥ ७८ ॥

गुरौ शास्त्रे श्रद्दधद्भ्यः विरक्तेभ्यश्च सर्व्वथा ।
प्रारब्धवद्भ्यो भक्तेभ्यः प्रदेयेयं प्रयत्नतः ॥ ७९ ॥

सम्यगध्ययनादस्या स्तापत्रयविमुक्तितः ।
कैवल्यमधिगच्छन्ति साधकाः शान्तमानसाः ॥ ८० ॥

शृण्वतां पठतां वैतां श्रद्धया प्राणिनां हितां ।
आधयो व्याधयः सर्व्वे निवर्त्तन्ते ध्रुवं ध्रुवं ॥ ८१ ॥

पठनात् पाठनाद् भक्त्या श्रवणादपि सर्व्वथा ।
रोगीरोगात्प्रमुक्तः सन् शान्तिमाप्नोतिभक्तिमान् ॥ ८२ ॥

आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी त्रय एते सदाशयाः ।
पठित्वा पाठयित्वेमां श्रुत्वा स्युः सफलाशयाः ॥ ८३ ॥

सबके कल्याणकेलिये यह गीता मैंने सुनायी है। इसका पूर्णरीत्या प्रचारकर आप मङ्गल करें ॥ ७७ ॥ जो गुरुभक्तिसे हीन, नास्तिक और अविश्वाससे अपवित्र हों, उनको यह कभी न दी जाय ॥ ७८ ॥ गुरु और शास्त्रोंमें जिसकी श्रद्धा हो, जो सर्वथा विरक्त हो और जो भाग्यवान् भक्त हो, उसको यह अवश्य देनी चाहिये ॥ ७९ ॥ इसका अच्छीतरह अध्ययन करनेसे तीनों ताप छूट जाते हैं और फिर वे शान्तचेता साधक कैवल्यको प्राप्त करते हैं ॥ ८० ॥ श्रद्धाकेसाथ इस कल्याणकारिणी गीताका पाठ करनेसे अथवा सुननेही से प्राणिमात्रकी आधि व्यधि छूट जाती है—यह निश्चय है ॥ ८१ ॥ भक्ति भावसे इसका पठन पाठन या श्रवण ही करनेसे भक्तिमान् रोगी रोगसे मुक्त होकर शान्तिलाभ करता है ॥ ८२ ॥ आर्त्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी ये तीनों सदाशय इसको पढ़कर, पढ़ाकर अथवा

ज्ञानी भक्तो ममैतस्याः श्रवणात्पठनादपि ।
पाठनादपि मां द्रष्टुं सदैव भवति प्रभुः ॥ ८४ ॥

पाठेनाऽस्या मन्त्रतश्च सूर्य्ययागे ह्यनुष्ठिते ।
ज्वरादीनां हि सर्व्वेषां रोगाणां जायते क्षयः ॥ ८५ ॥

इयं हि गीता रोगाणां मृतसंजीवनी ध्रुवा ।
अनाश्या अपि रोगा हि नश्यन्त्यस्याः प्रसादतः ॥ ८६ ॥

अस्याः प्रसादतो बाह्याः नश्यन्ति व्याधयो यथा ।
तथान्तर्व्याधयो नूनं विराय यान्त्यलं लयम् ॥ ८७ ॥

चतुर्भिराश्रमैर्वर्णैरस्याः पाठेन सर्व्वथा ।
सन्ततं सर्व्वकल्याणं लभ्यते नाऽत्र संशयः ॥ ८८ ॥

उपासकेभ्यो गीताया अस्या दानेन भक्तितः ।
धर्म्मार्थकामा लभ्यन्ते निरायासं प्रदातृभिः ॥ ८९ ॥

पठनाच्छ्रवणादस्या मननात् पाठनादपि ।
मुमुक्षवो निरायासं लभन्ते मोक्षमव्ययम् ॥ ९० ॥

सुनकर सफलमनोरथ हो सकते हैं ॥ ८३ ॥ ज्ञानी भक्त भी मेरी इस गीताको श्रवण कर, पढ़कर या पढ़ाकर मुझको देखनेमें समर्थ हो सकते हैं ॥ ८४ ॥ इस गीताके पाठसे और इस गीताके शब्द रूप मन्त्रोंसे सूर्य्ययागका अनुष्ठान करनेपर ज्वरादि सब रोगोंका क्षय हो जाता है ॥ ८५ ॥ यह गीता रोगोंकेलिये मृतसंजीवनी है, असाध्य रोग भी इस गीताके प्रसादसे नष्ट होते हैं ॥ ८६ ॥ इसके प्रसादसे जैसे वहिर्व्याधियाँ नाश होती हैं, वैसे ही अन्तर्व्याधियाँ भी निर्मूल हो जाती हैं ॥ ८७ ॥ चारों आश्रम और चारों वर्ण इसके पाठ करनेसे निरन्तर सब कल्याण प्राप्त करते हैं, यह निस्सन्देह है ॥ ८८ ॥ उपासकोंको इस गीताके दान करनेसे दाताओंको निरायास धर्मार्थ और काम प्राप्त होते हैं ॥ ८९ ॥ इस गीताके पठन श्रवण और मननसे और पाठनसे भी मुमुक्षु निरायास अव्यय मोक्षको प्राप्त करते हैं ॥ ९० ॥



त्रितापहारिणी सत्यमेषाऽभ्युदयकारिणी ।
निःश्रेयसकरी नूनं ब्रवीम्यहमसंशयम् ॥ ६१ ॥

इति श्रीसूर्य्यगीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे सूर्य्यर्षिसंवादे जीवन्मुक्तलक्षणनिरूपणं नाम सप्तमोऽध्यायः ।

समाप्तेयं सूर्य्यगीता ।

यह तीनों तापोंको हरण करनेवाली, इहलोकमें अभ्युदयकारिणी और परलोकमें निःश्रेयस पदको देनेवाली है, यह जो मैं कहता हूँ, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ ६१ ॥

इसप्रकार श्रीसूर्य्यगीतोपनिषद्के ब्रह्मविद्यासम्बन्धि सूर्य्यर्षि-संवादात्मक योगशास्त्रका जीवन्मुक्तलक्षणनिरूपणनामक सप्तम अध्याय समाप्त ।

श्रीसूर्य्यगीता समाप्त ।

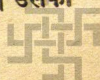
श्रीविश्वनाथो जयति।

धर्मप्रचारका सुलभ साधन।

समाजकी भलाई! मातृभाषाकी उन्नति!! देशसेवाका विराट् आयोजन!!!

—:❀:—

इस समय देशका उपकार किन उपायोंसे हो सकता है? संसारके इस छोरसे उस छोरतक चाहे किसी चिन्ताशील पुरुषसे यह प्रश्न कीजिये, उत्तर यही मिलेगा कि, धर्मभावके प्रचारसे। क्योंकि धर्मने ही संसारको धारण कर रक्खा है। भारतवर्ष किसी समय संसारका गुरु था, आज वह अधः पतित और दीन हीन दशामें क्यों पच रहा है? इसका भी उत्तर यही है कि, वह धर्मभावको खो बैठा है। यदि हम भारतसे ही पूछें कि तू अपनी उन्नतिकेलिये हमसे क्या चाहता है? तो वह यही उत्तर देगा कि मेरे प्यारे पुत्रों! धर्मभावकी वृद्धि करो। संसारमें उत्पन्न होकर जो व्यक्ति कुछ भी सत्कार्य करनेके-लिये उद्यत हुए हैं, उन्हें इस बातका पूर्ण अनुभव होगा कि, ऐसे कार्योंमें कैसे विघ्न और कैसी बाधायें उपस्थित हुआ करती हैं। यद्यपि धीर पुरुष उनकी परवाह नहीं करते और यथासम्भव उनसे लाभ ही उठाते हैं, तथापि इसमें सन्देह नहीं कि, उनके कार्योंमें उन विघ्न बाधाओंसे कुछ रुकावट अवश्य ही हो जाती है। श्रीभारतधर्म महामण्डलके धर्मकार्यमें इसप्रकार अनेक बाधायें होनेपर भी अब विपत्तिके मेघ धीरे धीरे दूर हुए और हो रहे हैं, तथा उसे पुनः उज्ज्वल मुखसे जनसाधारणका हित साधन करनेका सर्व शक्तिमान् भगवान्ने सुअवसर प्रदान कर दिया है। भारत अधार्मिक नहीं है। हिन्दूजाति धर्म्मप्राण जाति है। उसके रोम रोममें धर्म्म संस्कार ओतप्रोत हैं। केवल वह अपने रूपको धर्मभावको-भूल रही है। उसे अपने स्वरूपकी पहिचान करा देना धर्मभावको स्थिर रखना-ही श्रीभारतधर्म महामण्डलका एक पवित्र और प्रधान उद्देश्य है। वह कार्य ६६ वर्षोंसे महामण्डल कर रहा है और ज्यों ज्यों उसको



अधिक सुअवसर मिलेगा, त्यों त्यों वह जोर शोरसे यह काम करेगा। उसका विश्वास है कि, इसी उपायसे देशका सच्चा उपकार होगा और अन्तमें भारत पुनः अपने गुरुत्वको प्राप्त कर सकेगा।

इस उद्देश्य साधनकेलिये सुलभ दो ही मार्ग है। (१) उपदेशकोंद्वारा धर्मप्रचार करना और (२) धर्मरहस्य सम्बन्धी मौलिक पुस्तकोंका उद्धार व प्रकाश करना। महामण्डलने प्रथम मार्गका अवलम्बन आरम्भसे ही किया है और अब तो उपदेशक महाविद्यालय स्थापित कर महामण्डलने वह मार्ग स्थिर और परिष्कृत कर लिया है। दूसरे मार्गके सम्बन्धमें भी यथायोग्य उद्योग आरम्भसे ही किया जा रहा है। विविध ग्रन्थोंका संग्रह और निर्माण करना, मासिक पत्रिकाओंका सञ्चालन करना, शास्त्रीय ग्रन्थोंका आविष्कार करना, इसप्रकारके उद्योग महामण्डलने किये हैं और उनमें सफलता भी प्राप्त की है। परन्तु अभीतक यह कार्य सन्तोषजनक नहीं हुआ है। उपदेशकोंद्वारा जो धर्मप्रचार होता है, उसका प्रभाव चिरस्थायी होनेकेलिये उसी विषयकी पुस्तकोंका प्रचार होना परम आवश्यक है क्योंकि वक्ता एक दो बार जो कुछ सुना देगा, उसका मनन विना पुस्तकोंका सहारा लिये नहीं हो सकता। इसके सिवा सब प्रकारके अधिकारियोंकेलिये एक वक्ता कार्यकारी नहीं हो सकता। पुस्तकप्रचारद्वारा यह काम सरल हो जाता है। जिसे जितना अधिकार होगा, वह उतने ही अधिकारकी पुस्तकें पढ़ेगा। महामण्डलने भी सब प्रकारके अधिकारियोंके योग्य पुस्तकें निर्माण की हैं। सारांश, देशकी उन्नतिकेलिये, भारतगौरवकी रक्षाकेलिये और मनुष्योंमें मनुष्यत्व उत्पन्न करनेकेलिये महामण्डल पुस्तक प्रकाशन विभागको अधिक उन्नत और नियमित कर चुका है। उसकी सर्वसाधारणसे प्रार्थना है कि, वे ऐसे सत्कार्यमें इसका हाथ बटावें एवम् इसकी सहायता कर अपनी ही उन्नतिकर लेनेको प्रस्तुत हो जावें।

श्रीभारतधर्ममहामण्डलके व्यवस्थापक पूज्यपाद श्री ११०८ स्वामी ज्ञानानन्दजी महाराजश्रीके आशीर्वाद काशीके प्रसिद्ध विद्वानोंकेद्वारा सम्पादित होकर प्रामाणिक, सुबोध और सुहृदयरूपसे यह ग्रन्थमाला परिचालित हुई थी। ग्रन्थमालाके जो ग्रन्थ छपकर प्रकाशित हो चुके हैं, उनमेंसे प्रमुख ग्रन्थोंकी यह सूची प्रकाशित की जाती है।



धार्मिकाध्यात्मिक संस्कृत विद्यापीठ

श्री भारतधर्ममहामण्डल, जगतगंज, वाराणसी आर्य संस्कृतिकी रक्षा करनेवाली प्राचीनतम संस्था है। विद्याप्रचारके उद्देश्यसे एवम् आध्यात्मिक ज्ञानकी अभिवृद्धिकेलिये श्री वाराणसी विद्यापरिषद्का संचालन प्रारम्भमें किया गया। परलोकगत लार्ड मिण्टोके सत्परामर्शके अनन्तर अखिलभारतवर्षीय ब्राह्मण सम्मेलनके प्रस्तावकेअनुसार अखिल-भारतीय धार्मिकाध्यात्मिक संस्कृत विद्यापीठ (आल इण्डिया रिलीजस एण्ड स्पिरिचुअल यूनिवर्सिटी) की स्थापना हुई।

वर्तमान समयमें भारतके समस्त प्रान्तोंमें जो विश्वविद्यालय चल रहे हैं—उनमें ईश्वर ज्ञान विहीन धार्मिक निष्ठासे रहित संस्कार हीन शिक्षा ही दी जाती है। श्री भारतधर्म महामंडलके संस्थापक भगवत्पूज्य-पाद् ११०८ महर्षि श्री स्वामी ज्ञानानन्दजी महाराजवर्यने इस शिक्षा संस्थानकेद्वारा भारतवर्षमें पुनः धार्मिक और आध्यात्मिक शिक्षाका सूत्र-पात किया।

आज हिमालयसे लेकर कन्याकुमारीतक और पंजाबसे आसाम पर्यन्तके समग्र भूभागमें इस विद्यापीठके शताधिक केन्द्र कार्यरत हैं और संस्कृत विद्याके साथ ही साथ हिन्दी राष्ट्रभाषाका प्रचार कर रहे हैं।

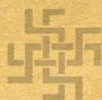
इसके माध्यमसे आचार्य, शास्त्री, मध्यमा और प्रथमा तककी परीक्षायें, आयुर्वेद, व्याकरण, दर्शन, ज्योतिष, साहित्यआदि सभी विषयोंमें ली जाती हैं। उपाधि परीक्षाओंकी व्यवस्था भी है। डी० ओ० सी०, बी० डी० सी० एवम् साहित्य वाचस्पति परीक्षायें निबन्ध-द्वारा भी ली जाती हैं।

शक्तिगीताके पाठकोंसे निवेदन है कि, वे इस संस्थाके नियम मँगायें और अपने संस्थानोंमें इसके केन्द्र स्थापित कर इसके सदुद्देश्यका प्रचार करें। नियमावलीकेलिये इस पतेपर लिखें :—

परीक्षामंत्री

अखिल भारतीय धार्मिकाध्यात्मिक संस्कृत विद्यापीठ

जगतगंज, वाराणसी



1108

आर्यमहिलाके नियम।

१—श्रीआर्यमहिलाहितकारिणी महापरिषद्‌की मुखपत्रिकाके रूपमें आर्यमहिला प्रकाशित होती है।

२—महापरिषद्‌की सबप्रकारकी सभ्या महोदयाओं और सभ्य महोदयोंको यह पत्रिका बिना मूल्य दी जाती है। अन्य ग्राहकोंको ५) वार्षिक अग्रिम देनेपर प्राप्त होती है। प्रतिसंख्याका मूल्य ५० पैसा है। पुस्तकालयों तथा वाचनालयों को ३) वार्षिकमें ही दी जाती है।

३—किसी लेखको घटाने, बढ़ाने या प्रकाशित करने या न करनेका सम्पूर्ण अधिकार सम्पादिकाको है। योग्य लेखकों तथा लेखिकाओंको नियत पारितोषिक दिया जाता है, और विशेष योग्य लेखकों तथा लेखिकाओंको अन्यान्य प्रकारसे भी सम्मानित किया जाता है।

४—हिन्दी लिखनेमें असमर्थ मौलिक लेखक-लेखिकाओंके लेखोंका अनुवाद कार्यालयसे करा कर छापा जाता है।

५—समालोचनार्थ पुस्तकें, लेख, परिवर्तनकी पत्र-पत्रिकायें, कार्यालय-सम्बन्धी पत्र, छपने योग्य विज्ञापन और रुपयाआदि सब निम्नलिखित पतेपर आना चाहिये।

व्यवस्थापक
'आर्यमहिला'
श्रीमहामण्डलभवन जगत्‌गंज, वाराणसी कैण्ट

उपदेशक महाविद्यालय

इस विभागकेद्वारा आचार्य और एम० ए० परीक्षोत्तीर्ण प्रतिभा-सम्पन्न विद्यार्थियोंको शास्त्रीय व्युत्पत्तिसे सम्पन्न और विशुद्ध सांस्कृतिक चेतनासे सुसम्पन्न बनाया जाता है। भारतमें अपने ढङ्गकी यह एक ही संस्था है। इसकेद्वारा ज्ञानसम्पन्न अनेक उपदेशकोंने समग्र भारतमें प्रौढ रूपसे धर्मका प्रचार कार्य किया है।

भगवत्पूज्यपाद महर्षि ११०८ श्रीज्ञानानन्दजी महाराजवर्यके आशीर्वादोंसे अनुप्राणित यह संस्था आज भी धर्मसेवामें यथावत् संलग्न है।



